विषय-सूची

प्रकाशकीय

तीर्थंकर भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के पावन प्रसंग पर पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने लोकप्रिय आध्यात्मिक लेखक डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' नामक पुस्तक १३, नवम्बर, १९७४ ई० को प्रकाशित की है, जिसका सर्वत्र स्वागत हुआ है व १०,००० का प्रथम संस्करण समाप्तप्राय: है तथा द्वितीय संस्करण श्री वीतराग-विज्ञान सस्ता साहित्य प्रसारक ट्रस्ट (३/२०, चैतन्य विलास, महात्मा-गांधी मार्ग, आगरा, उ०प्र०) द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है।

उक्त पुस्तक के द्वितीय खण्ड 'सर्वोदय तीर्थ' में अनादिकाल से समागत तथा वीतरागी-सर्वज्ञ महावीर द्वारा प्रतिपादित मुक्तिमार्ग अर्थात् शाश्वत तत्त्वों एवं सिद्धान्तों की तार्किक किन्तु रोचक एवं बोधगम्य विवेचना प्रस्तुत की गई है। जहाँ एक ओर अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे गंभीर और गूढ़ विषयों पर साधिकार, सप्रमाण व तर्कसंगत निरूपण हुआ है; वहीं दूसरी ओर देव-शास्त्र-गुरु जैसे भक्ति-प्रधान एवं भेद-विज्ञान जैसे आध्यात्मिक भावमयी विषयों को सीधी सार के साथ-साथ उपयुक्त उदाहरणों के द्वारा गले उतारने का सफल प्रयास किया गया है। सर्वत्र मौलिकता विद्यमान होने पर भी जिनवाणी का अनुगमन है तथा महावीर वाणी के प्रतिपादन का केन्द्र बिन्दु आत्मा कहीं भी ओझल नहीं होने पाया है।

यद्यपि उक्त पुस्तक 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' आद्योपान्त पठनीय एवं मननीय है, और उसे मात्र लागत मूल्य में उपलब्ध कराया गया है, तथापि उसका द्वितीय खण्ड अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से सर्व-साधारण को और भी कम मूल्य में प्राप्त हो सके, इस भावना से इसे 'सर्वोदय तीर्थ' नाम से पृथक् प्रकाशित करने का निर्णय किया गया है। परिणामस्वरूप प्रस्तुत कृति आपके समक्ष प्रस्तुत है।

द्वितीय संस्करण हेतु संशोधित सुझावों के साथ,

ए-४, बापूनगर, जयपुर-४ — पूरनचन्द गोदीका, अध्यक्ष — नेमीचन्द पाटनी, मंत्री

१ जनवरी, १९७५ ई० — पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

४१. मोक्षमार्ग प्रकाशक : पं० टोडरमल; सस्ती ग्रंथमाला, दिल्ली
४२. युक्त्यनुशासन : आ० समन्तभद्र; वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, देहली
४३. योगसार : आचार्य अमितगति; जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
४४. योगसार : आचार्य योगीन्दुदेव; श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास
४५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र
४६. रयणसार : आचार्य कुन्दकुन्द
४७. राजवार्तिक : आचार्य अकलंकदेव; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
४८. रामचरितमानस : महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी
४९. लघीयस्त्रय टीका : आचार्य अकलंकदेव
५०. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-४
५१. श्लोकवार्तिक : आचार्य विद्यानन्दि; आ० कुंथुसागर ग्रंथमाला, शोलापुर
५२. श्रीमद् राजचन्द्र : श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
५३. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द
५४. समयसार कलश : आचार्य अमृतचन्द्र
५५. [illegible] : श्री कानजी स्वामी; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
५६. स्वयंभूस्तोत्र : आचार्य समन्तभद्र; वीर सेवा मंदिर, सरसावा
५७. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारीसिंह 'दिनकर'
५८. [illegible]; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
५९. समाधितंत्र : आचार्य पूज्यपाद; अ० विश्व जैन मिशन, अलीगंज (यू.पी.)
६०. सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली

सर्वोदय तीर्थ

तीर्थंकर भगवान महावीर का तीर्थ सर्वोदय तीर्थ है । उसे उन्होंने किसी गिरि-शिखर पर या नदी के किनारे खड़ा नहीं किया था । उनका उपदेश ही उनका तीर्थ है, उनकी वाणी ही तीर्थ है और वे हैं तीर्थंकर । उन्होंने वस्तु के जिस अनेकान्तात्मक सर्वोदय स्वरूप का प्रतिपादन किया है उसमें वस्तु-स्वातन्त्र्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । उनकी दिव्य-वाणी में मात्र जन-जन की स्वतंत्रता की ही घोषणा नहीं हुई, अपितु कण-कण की स्वतंत्रता का घोषनाद हुआ है ।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र है, वह अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता स्वयं है, उसके परिणमन में पर का हस्तक्षेप रंचमात्र भी नहीं है ।

कर्त्तावाद का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है । कर्त्तावाद के निषेध से उनका तात्पर्य मात्र इतना ही नहीं है कि कोई शक्तिमान ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है । किसी एक महान शक्ति को समस्त जगत का कर्त्ता-हर्त्ता मानना एक कर्त्तावाद है, तो परस्पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता मानना अनेक कर्त्तावाद है ।

यह विश्व अनादि-अनन्त है, इसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई इसका विनाश कर सकता है, यह स्वयंसिद्ध है । विश्व का कभी सर्वथा नाश नहीं होता है, मात्र परिवर्तन होता है; वह परिवर्तन कभी-कभी नहीं, निरन्तर हुआ करता है ।

यह समस्त जगत परिवर्तनशील होकर भी नित्य है और नित्य होकर भी परिवर्तनशील है। यह नित्यानित्यात्मक है, इसकी नित्यता स्वतःसिद्ध है और परिवर्तन इसका स्वभावगत धर्म है। नित्यता के समान अनित्यता भी वस्तु का स्वरूप है। प्रत्येक वस्तु सत् स्वरूप है। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है[1]। उत्पाद और व्यय परिवर्तनशीलता का नाम है और ध्रौव्य नित्यता का। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है, अतः वह द्रव्य है। द्रव्य गुण और पर्यायवान होता है[2]। जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और समस्त पर्यायों में रहे उसे गुण कहते हैं तथा गुणों के परिणमन को पर्याय कहा जाता है।

षट् द्रव्य

यह विश्व पृथक् से और कुछ नहीं है, छह द्रव्यों के समुदाय को ही विश्व कहते हैं[3]। वे छः द्रव्य हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव को छोड़कर बाकी पांच द्रव्य अजीव हैं। इस तरह यह सारा जगत् चिदचिदात्मक है। जीव द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्त गुणे हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं[4]। काल द्रव्य असंख्यात हैं[5]।

ज्ञान-दर्शन-स्वभावी आत्मा को जीव द्रव्य कहते हैं[6]। जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पाया जाय वह पुद्गल है[7]। जितना इन्द्रियों के माध्यम से दृश्यमान जगत् है वह सब पुद्गल का ही परिणमन है, अतः पुद्गल ही है। स्वयं चलते हुए जीवों और पुद्गलों को गमन में जो सहकारी (निमित्त) कारण है, वह धर्म द्रव्य है। गतिपूर्वक स्थिति करने वाले जीवों और पुद्गलों की स्थिति में जो

---

[1] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। –तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ३०

[2] गुणपर्ययवद् द्रव्यम्। –तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ३८

[3] द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ३९

[4] आ आकाशादेकद्रव्याणि। –तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ६

[5] ते कालाणू असंखदव्वाणि। –द्रव्यसंग्रह, गाथा २२

[6] उपयोगो लक्षणम्। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः। –तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सूत्र ८–९

[7] स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः। –तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र २३

सहकारी (निमित्त) कारण है, वह अधर्म द्रव्य है। समस्त द्रव्यों के अवगाहन में आकाश द्रव्य और परिवर्तन में काल द्रव्य निमित्त है[१]।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का वर्णन एकमात्र जैन दर्शन में ही है, अन्य दर्शनों में नहीं। लोक में धर्म-अधर्म शब्द दर्शन, मत, सिद्धान्त, आचार, पुण्य-पाप आदि के अर्थ में प्रचलित हैं; परन्तु उन अर्थों से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। ये दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं, जो सम्पूर्ण लोक में तिल में तेल की भांति व्याप्त हैं। जैन दर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों का प्रतिपादन जीव और पुद्गल के अनुपात में बहुत कम हुआ है। कारण कि जैन तत्त्व के प्रतिपादन और उपदेश का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुख का नाश रहा है।

प्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र ने धर्म की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कहा है :- "जो प्राणियों को संसार दुःख से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा दे, वही धर्म है[२]।"

प्रतिपादन का केन्द्र बिन्दु

संसार में जितने जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दुख से डरते हैं। यही कारण है कि समस्त तीर्थंकरों ने दुःख को हरने वाला और सुख को करने वाला सदुपदेश ही दिया है। तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का उद्देश्य भी आधि, व्याधि और उपाधिरूप त्रिविध ताप से संतप्त प्राणियों को मुक्ति का मार्ग बताना था। मुक्ति का मार्ग अर्थात् दुःखों से मुक्ति का उपाय, विकारों से मुक्ति का उपाय। अतः जिनवाणी में जितना और जो भी कथन है वह सब इसी दृष्टिकोण से है। षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थरूप जो भी कथन है वह दुख, दुख के कारणों, सुख और सुख के कारणों को ध्यान में रखकर ही किया गया है।

षट् द्रव्यों में जीव को छोड़कर पांच अजीव द्रव्य तो न दुखी हैं और न कभी उनके सुखी होने का ही सवाल है क्योंकि उनमें चेतनता ही नहीं है। सुख-दुःख चेतन को ही होते हैं क्योंकि वे चेतन

---

१ (क) द्रव्यसंग्रह, गाथा १७ से २१; (ख) प्रवचनसार, गाथा १३३-३४

२ संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक २

की ही अनुभूतियां हैं। पांचों अजीव द्रव्य अचेतन होने से समझते भी नहीं हैं, अतः उन्हें समझाने का प्रश्न भी नहीं है, उन्हें समझना भी नहीं है, क्योंकि समझ तो सुखी होने के लिए चाहिए, उन्हें सुखी होने का प्रश्न ही नहीं है। समझना संसारी जीवों को है, क्योंकि वे दुःखी हैं और उन्हें सुखी होना है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इस जीव के लिए न तो दुःख के कारण ही हैं और न सुख के। यही कारण है कि इनका प्रतिपादन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है।

पुद्गल द्रव्य तेईस प्रकार का होता है, किन्तु पांच प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं का संयोग ही जीव के साथ होता देखा जाता है। वे पांच प्रकार हैं – आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा, तैजस वर्गणा और कार्माण वर्गणा। जिनागम में संसारी आत्मा से एक क्षेत्रावगाह रूप से संबंध रखने वाले पांच प्रकार के शरीरों का वर्णन है– औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। इनमें से औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर आहार वर्गणा से बनते हैं। तैजस वर्गणा से तैजस शरीर और कार्माण वर्गणा से कार्माण शरीर निर्मित होता है। मनो वर्गणा से मन का निर्माण होता है और भाषा वर्गणा शब्दरूप परिणमित होकर भाषा का रूप लेती है। अतः पुद्गल का जो वर्णन जिनागम में मिलता है, उसमें सर्वाधिक वर्णन उक्त पांच प्रकार के पुद्गलों का ही होता है।

भगवान महावीर के उपदेशों का केन्द्र विन्दु आत्मा है, अतः आत्म-तत्त्व के प्रतिपादन के लिए पर-द्रव्यों का जितना और जो कथन आवश्यक है उतना और वही कथन उनकी वाणी में मुख्य रूप से आया। जीव का प्रतिपादन तो जीव के समझने के लिए है ही, किन्तु अजीव द्रव्यों का प्रतिपादन भी जीव (आत्मा) को समझने के लिए ही है[1], क्योंकि आत्मा का हित तो आत्मा के जानने में है। पर को मात्र जानना है और जीव को जानकर उसमें जमना है, रमना है। पर को जानकर उससे हटना है और जीव को, स्वजीव को जानकर उसमें डटना है। पर को जानकर उसे छोड़ना है और स्व को जानकर उसे पकड़ना है, जकड़ना है।

[1] बृहद् नयचक्र, गाथा २८४ में उद्धृत

र्म क्या है ?

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, ही उसका धर्म है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार जो धारण करता है थवा जिसके द्वारा धारण किया जाता है वह धर्म है। प्रत्येक वस्तु को सका स्वभाव ही धारण करता है अथवा प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव ो ही धारण करती है; अतः वह स्वभाव ही उस वस्तु का धर्म है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रद्धा, सुख आदि अनंत गुणों का पिण्ड ही ात्मा है, वे ही आत्मा को धारण करते हैं अथवा आत्मा ही उन्हें ारण करता है; अतः वे ही आत्म-धर्म हैं। इसी प्रकार स्पर्श, स, गंध, वर्णादि पुद्गल के गुण हैं, वे ही उसे धारण करते हैं अथवा ुद्गल ही उन्हें धारण करता है; अतः वे ही पुद्गल के धर्म हैं।

गुणों के साथ गुणों का परिणमन भी वस्तु का स्वभाव है। वह रिणमन दो प्रकार का देखा जाता है। स्वभाव के अनुकूल परिणमन को स्वभाव पर्याय और प्रतिकूल परिणमन को विभाव पर्याय कहते हैं। वस्तु का स्वभाव तो धर्म है ही, स्वभाव के अनुकूल परिणमन होने से स्वभाव पर्याय को भी धर्म कहते हैं।

चूंकि यहाँ आत्मा को सुख-शांति प्राप्त कराने वाले धर्म की ही चर्चा अपेक्षित है, अतः महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म मात्र 'धर्म' नहीं, 'आत्म-धर्म' है; जो मोक्ष का मार्ग है, दुःखों से छूटने का उपाय है। वस्तु का त्रिकाली स्वभाव तो सदा विद्यमान ही है, उसे क्या छोड़ना और क्या पाना ? उसे तो जानना है, समझना है। अज्ञानी आत्मा ने आज तक उसे समझा नहीं, उसकी श्रद्धा नहीं की, उसका अनुभव नहीं किया।

तीर्थंकर महावीर की दिव्य-वाणी का मूल प्रतिपाद्य यह मोक्षमार्ग ही है। उनकी वाणी में इसके अतिरिक्त और कुछ खोजना व्यर्थ है।

धर्म तीर्थ

उनका उक्त उपदेश ही उनका धर्म तीर्थ है, जिसे आचार्य समन्तभद्र ने 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है[१]। सबका उदय ही सर्वोदय है अर्थात् जिसमें सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों, प्रत्येक व्यक्ति सर्वोच्च पद प्राप्त कर सके, सबको पूर्ण सुखी और ज्ञानी होने का पूर्ण अधिकार हो, वही सिद्धान्त सर्वोदय है। इस अर्थ में तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित एवं अनादिकाल से समागत जिनसिद्धान्त वास्तविक सर्वोदय तीर्थ है, क्योंकि उसमें परमपद भी किसी व्यक्ति विशेष (ईश्वर) को सुरक्षित नहीं है। कोई भी आत्मा जिनागम में बताये मुक्तिमार्ग पर चलकर परमात्मा बन सकता है, परमपद प्राप्त कर सकता है।

सर्वजीव समभाव जैसा जिनागम में प्रतिपादित है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। समानता ही सर्वोदय का मूल आधार है। महावीर की वाणी में स्वतंत्रता के साथ समानता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनके सर्वोदय तीर्थ के वस्तु-स्वातन्त्र्य और समानता, ये दो प्रबल दीप-स्तम्भ हैं जिन पर स्याद्वाद शैली में अभिव्यक्त अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वरूप सूर्य और चन्द्रमा की भांति प्रकाशित हो रहा है और अहिंसात्मक आचरण की पावन गंगा में प्रवाहित होकर अपरिग्रह के आनन्द-सागर में लहरा रहा है।

तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मतीर्थ अर्थात् मुक्ति का मार्ग क्या है? – यही इस खण्ड का मूल प्रतिपाद्य है।

---

[१] सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

– युक्त्यनुशासन, श्लोक ६१

धर्म क्या है ?

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार जो धारण करता है अथवा जिसके द्वारा धारण किया जाता है वह धर्म है। प्रत्येक वस्तु को उसका स्वभाव ही धारण करता है अथवा प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव को ही धारण करती है; अतः वह स्वभाव ही उस वस्तु का धर्म है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रद्धा, सुख आदि अनंत गुणों का पिण्ड ही आत्मा है, वे ही आत्मा को धारण करते हैं अथवा आत्मा ही उन्हें धारण करता है; अतः वे ही आत्म-धर्म हैं। इसी प्रकार स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि पुद्गल के गुण हैं, वे ही उसे धारण करते हैं अथवा पुद्गल ही उन्हें धारण करता है; अतः वे ही पुद्गल के धर्म हैं।

गुणों के साथ गुणों का परिणमन भी वस्तु का स्वभाव है। वह परिणमन दो प्रकार का देखा जाता है। स्वभाव के अनुकूल परिणमन को स्वभाव पर्याय और प्रतिकूल परिणमन को विभाव पर्याय कहते हैं। वस्तु का स्वभाव तो धर्म है ही, स्वभाव के अनुकूल परिणमन होने से स्वभाव पर्याय को भी धर्म कहते हैं।

चूंकि यहाँ आत्मा को सुख-शांति प्राप्त कराने वाले धर्म की ही चर्चा अपेक्षित है, अतः महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म मात्र 'धर्म' नहीं, 'आत्म-धर्म' है; जो मोक्ष का मार्ग है, दुःखों से छूटने का उपाय है। वस्तु का त्रिकाली स्वभाव तो सदा विद्यमान ही है, उसे क्या छोड़ना और क्या पाना ? उसे तो जानना है, समझना है। अज्ञानी आत्मा ने आज तक उसे समझा नहीं, उसकी श्रद्धा नहीं की, उसका अनुभव नहीं किया।

आत्म-स्वभाव का साक्षात्कार करना ही एक मात्र कर्त्तव्य है। स्वभाव के साक्षात्कार से, आश्रय से, जो स्वभाव पर्याय प्रगट होती है; वही प्राप्तव्य धर्म है, उसे ही पाना है। वह रत्नत्रय स्वरूप है। आत्मा का स्वभाव मूलतः आत्म-धर्म है और उसके सन्मुख होकर मानना, जानना, और उसी में रम जाना, जम जाना, समा जाना, स्वभाव पर्यायरूप धर्म है; जिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहते हैं; रत्नत्रय धर्म कहते हैं; मुक्ति का मार्ग कहते हैं।

आचार्य उमास्वामी महाराज तत्त्वार्थसूत्र में लिखते हैं :-

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" ।१।१।। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकरूपता ही मुक्ति का मार्ग है।

इसी को धर्म घोषित करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं :-

"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः[1] ।।

धर्म के ईश्वर तीर्थंकर देव कहते हैं - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही धर्म है और इसके विपरीत संसार-दुःखों को बढ़ाने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म हैं।

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र आत्मा के गुण हैं। इनका स्वभाव-परिणमन क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। स्वभाव के अनुकूल परिणमन होने से वे धर्म हैं, सुख के कारण हैं और सुखरूप हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र क्रमशः उन्हीं गुणों के विभाव परिणमन हैं; अतः वे अधर्म हैं, दुःखरूप हैं और दुःख के कारण हैं।

आत्मा अथवा सप्त-तत्त्व सम्बन्धी विपरीत मान्यता (श्रद्धा) को मिथ्यादर्शन, विपरीत ज्ञान को मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान से युक्त, कषाय एवं विषयरूप प्रवृत्ति को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

ध्यान रहे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों पृथक्-पृथक् मुक्ति के मार्ग नहीं हैं, वरन् तीनों की एकता ही मुक्ति का मार्ग है। मुक्ति के मार्ग तीन नहीं, एक है, और वह तीनों की एकतारूप ही है। ये तीनों आत्म-स्वरूप ही हैं, क्योंकि आत्म-स्वरूप का निश्चय करना सम्यग्दर्शन, आत्म-स्वरूप का परिज्ञान करना सम्यग्ज्ञान और आत्म-स्वरूप में लीन होना ही सम्यक्चारित्र है[2]।

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३

[2] दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ।।
— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६

सम्यग्दर्शन

जीवादि तत्त्वार्थों का सच्चा श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[१]। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं[२]। इन सातों को तत्त्व भी कहते हैं और अर्थ भी कहते हैं, अतः इन्हें यहाँ तत्त्वार्थ कहा गया है। यहाँ 'तत्त्व' शब्द भाववाची है और 'अर्थ' वस्तुवाची। वस्तु और भाव दोनों का श्रद्धान अपेक्षित होने से दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्वार्थ भी कहे जाते हैं[३]। जहाँ इनका पृथक् उल्लेख नहीं किया जाता है वहाँ उन्हें आस्रव-बंध में सम्मिलित कर लिया जाता है।

सम्यग्दर्शन में 'दर्शन' श्रद्धान के अर्थ में प्रयुक्त है और 'सम्यक्' पद विपरीताभिनिवेश (उल्टा अभिप्राय) के निषेध के लिए है। अतः विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन कहलाता है[४]।

उक्त परिभाषा के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन को समझाने के लिए जिनागम में विभिन्न स्थानों पर निम्न परिभाषाएँ भी मिलती हैं :–

(१) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है[५]।
(२) स्वपर-भेदविज्ञान ही सम्यग्दर्शन है[६]।
(३) आत्म-श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है[७]।

---

[१] तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। – तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २

[२] जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। – तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ४

[३] जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥ – पंचास्तिकाय, गाथा १०८

[४] जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत् ॥
– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २२

[५] श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ –रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४

[६] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३२५

[७] (क) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६
(ख) अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा २०

यद्यपि उक्त परिभाषाएँ ऊपर से देखने पर अलग-अलग प्रतीत होती हैं, किंतु गहराई से विचार करने पर सभी का एक ही अभिप्राय है। ये विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अनुयोगों की कथन-पद्धति एवम् प्रकरण के अनुसार कही गई हैं। आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी ने इन सब पर विस्तार से विचार कर इनका प्रयोजन स्पष्ट करते हुए इनमें सयुक्ति समन्वय स्थापित किया है[1]।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवादि सप्त या नव तत्त्वार्थों और देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का सच्चा ज्ञान और श्रद्धान आवश्यक है। साथ ही स्वपर-भेदविज्ञानपूर्वक आत्मानुभूति भी अत्यन्त आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षण इन्हीं में से एक को मुख्य व अन्यों को गौण करके बनाये गये हैं। प्रत्येक लक्षण में यद्यपि कोई एक को मुख्य रूप से लिया गया है तथापि उसमें गौण रूप से अन्य सभी आ जाते हैं, क्योंकि वे सभी परस्पर अनुस्यूत हैं। जैसे – सप्त तत्त्वों में देव-शास्त्र-गुरु इस प्रकार गर्भित हो जाते हैं :– मोक्ष तत्त्व को प्राप्त आत्मा ही देव एवं संवर-निर्जरा तत्त्व को प्राप्त आत्मा ही गुरु है तथा देव और गुरु की वाणी ही शास्त्र है, अतः सप्त तत्त्वों का सही स्वरूप जानने पर देव-शास्त्र-गुरु का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार सप्त तत्त्वों में आत्म-तत्त्व आ ही जाता है, अतः स्वपर-भेदविज्ञान और आत्मानुभूति भी गर्भित हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य परिभाषाओं में घटित किया जा सकता है।

मुक्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मुक्तिमहल की प्रथम सीढ़ी है, इसके विना ज्ञान और चारित्र का सम्यक् होना सम्भव नहीं है[2]। जिस प्रकार वीज के विना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम सम्भव नहीं है; उसी प्रकार

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३२५–३२

[2] मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥
– छहढाला, तृतीय ढाल, छन्द १७

सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम (मोक्ष) होना सम्भव नहीं है[१]। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है, जो इससे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट ही है, उसको मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है[२]।

अधिक क्या कहें? जो महान पुरुष अतीतकाल में मोक्ष गये हैं और भविष्य में जाएंगे, वह सव सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है[३]। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि – "प्राणियों को इस जगत में सम्यग्दर्शन के समान हितकारी और मिथ्यादर्शन के समान अहितकारी कोई अन्य नहीं है"[४]।

जीव तत्त्व

ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा को जीव तत्त्व कहते हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण होते हैं। सव गुणों में निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है जिसे पर्याय कहते हैं। पर्याय की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद किये जाते हैं – वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

जिसे नव तत्त्वों का सही ज्ञान व श्रद्धान नहीं है और जिसे आत्मानुभूति प्राप्त नहीं हुई है तथा जो शरीरादि अजीव पदार्थों एवं रागादिरूप आस्रवादि पदार्थों में अपनापन मानता है व उनका कर्त्ता वनता है, वह आत्मा ही वहिरात्मा है।

---

[१] विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे वीजाभावे तरोरिव ॥
रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३२

[२] दंसण भट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा ३

[३] किं वहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया, तंजाणइ सम्ममाहप्पं ॥
– अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़), गाथा ८८

[४] न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३४

[1] विशेष जानकारी के लिए देखिए :—

समाधिशतक : पूज्यपाद; अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़) : कुन्दकुन्द

[2] एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥

— समयसार, कलश ६

[3] अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥

— समयसार, कलश ७

दृष्टि की अपेक्षा वह सामान्य जीव तत्त्व (आत्मा) ही उपादेय है। उसे न जानने से और उसमें ही अपनापन न मानने से ही आत्मा वहिरात्मा (अज्ञानी) वना रहता है। उसे जान लेने से और उसमें ही अपनापन मान लेने पर वह आत्मा अन्तरात्मा (ज्ञानी) वन जाता है; तथा उसमें ही समग्रत: लीन हो जाने पर वही आत्मा परमात्म दशा प्राप्त कर लेता है।

अत: दृष्टि की अपेक्षा तो उपादेय एक सामान्य जीव तत्त्व ही है, किन्तु प्रगट करने की दृष्टि से अन्तरात्मा और परमात्मपद उपादेय हैं। वहिरात्मापन सर्वथा हेय ही है। उस परम उपादेय ज्ञान-दर्शन स्वभावी एक शुद्ध निजात्म-तत्त्व में उपयोग को स्थिर करने से, उसमें लीन होने से, सर्व विकारी भावों का अभाव होकर अनन्त आनन्दमय मोक्षदशा प्रगट होती है[1]।

अजीव तत्त्व

ज्ञान-दर्शन स्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य अजीव हैं, किन्तु जीव के संयोग में रहने वाले अजीवों के समझने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

जिसमें जीव का संयोग नहीं है ऐसे अजीव पदार्थ जैसे – टेविल, कुर्सी, कलम, दवात आदि को तो अजीव सभी मान लेते हैं; किन्तु जीव के संयोग में जो अजीव पदार्थ होते हैं उन्हें प्राय: जीव ही मान लिया जाता है। जैसे – हाथी, घोड़ा, गाय, मनुष्य आदि को जीव ही कहा जाता है – जवकि हाथी, घोड़ा, गाय, मनुष्य पर्याय; असमानजाति पर्याय होने से जीव और पुद्गल (अजीव) का संयोग है। भेद-विज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर हाथी, घोड़ा व मनुष्य का शरीर – स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले पुद्गल से निर्मित होने से अजीव है और उस शरीर में विद्यमान ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा जीव है। देह और

[1] अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि।।

जीव को एक मानना अज्ञान है[1] तथा जीव और अजीव की भिन्नता जानना ही जीव और अजीव तत्त्व का सही ज्ञान है।

देह (अजीव) से आत्मा (जीव) को भिन्न न जानने के कारण बहिरात्मा शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश में अपना नाश मान लेता है[2] तथा जो जानना-देखनारूप आत्मा के कार्य हैं, उन्हें शरीर के अंगरूप इन्द्रियों के कार्य मान लेता है। जीव और अजीव का सही ज्ञान होने के लिए दोनों की पृथकता जानना एवं शरीरादि से भिन्न आत्मा में अपनापन होना तथा शरीरादि में कर्त्तृत्व बुद्धि का अभाव होकर उनसे भिन्न आत्मा की अनुभूति होना अत्यन्त आवश्यक है।

आस्रव-बंध तत्त्व

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष भाव और उनका निमित्त पाकर पुद्गल की कार्माण वर्गणाओं का स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हो जाना आस्रव है। इसके दो भेद हैं – द्रव्यास्रव और भावास्रव। आत्मा के जिन भावों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, कर्मरूप परिणमित होते हैं, उन मोह-राग-द्वेषरूप भावों को भावास्रव या जीवास्रव कहते हैं और कार्माण वर्गणाओं का ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन ही द्रव्यास्रव या अजीवास्रव है[3]।

मोह-राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर कर्माणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक हो जाना बंध है। यह भी दो प्रकार का होता है – द्रव्य बंध और भाव बंध। आत्मा के जिन

---

[1] देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।

— छहढाला, तृतीय ढाल, छन्द ४

[2] तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ।।

— छहढाला, द्वितीय ढाल, छन्द ५

[3] आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ।।

— द्रव्यसंग्रह, गाथा २९

शुभाशुभ विकारी भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता है, उन भावों को भाव बंध कहते हैं और ज्ञानावरणादि कर्मों का बंधना द्रव्य बंध है[1]।

आस्रव और बंध को शुभ और अशुभ के भेदों में भी वर्गीकृत किया जाता है :– शुभास्रव – अशुभास्रव और शुभबंध – अशुभबंध। यद्यपि आस्रव और बंध तत्त्व हेय तत्त्व हैं; तथापि साधारण जन अशुभ आस्रव और अशुभबंध को तो हेय मान लेते हैं, किन्तु शुभास्रव और शुभबंध में उनकी उपादेय बुद्धि बनी रहती है। मुख्यत: पापबंध के कारणों को अशुभास्रव और पापबंध को अशुभबंध कहते हैं, इसी प्रकार पुण्यबंध के कारणों को शुभास्रव और पुण्यबंध को शुभबंध कहते हैं। पुण्योदय के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली भोग-सामग्री में रुचि वाले जीवों से शुभास्रव और शुभबंध में उपादेय बुद्धि नहीं छूटती है।

इस संदर्भ में आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी का कथन द्रष्टव्य है :–

"तथा आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापस्रव हैं उन्हें हेय जानता है। अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं उन्हें उपादेय मानता है। परन्तु यह तो दोनों ही कर्मबंध के कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है। वही समयसार के बंधाधिकार में कहा है* –

---

[1] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३२

* समयसार गाथा २५४ से २५६ तथा–

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय,
कर्मोदयान्मरण-जीवित दुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर: परस्य,
कुर्यात्पुमान् मरण जीवितदुःखसौख्यम् ॥६॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरण-जीवित दुःख-सौख्यम्।
कर्म्माण्यहं कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥७॥
(समयसार कलश, बंधाधिकार)

जीव को एक मानना अज्ञान है[१] तथा जीव और अजीव की भिन्नता जानना ही जीव और अजीव तत्त्व का सही ज्ञान है।

देह (अजीव) से आत्मा (जीव) को भिन्न न जानने के कारण वहिरात्मा शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश में अपना नाश मान लेता है[२] तथा जो जानना-देखनारूप आत्मा के कार्य हैं, उन्हें शरीर के अंगरूप इन्द्रियों के कार्य मान लेता है। जीव और अजीव का सही ज्ञान होने के लिए दोनों की पृथकता जानना एवं शरीरादि से भिन्न आत्मा में अपनापन होना तथा शरीरादि में कर्तृत्व बुद्धि का अभाव होकर उनसे भिन्न आत्मा की अनुभूति होना अत्यन्त आवश्यक है।

आस्रव-बंध तत्त्व

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष भाव और उनका निमित्त पाकर पुद्गल की कार्माण वर्गणाओं का स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हो जाना आस्रव है। इसके दो भेद हैं – द्रव्यास्रव और भावास्रव। आत्मा के जिन भावों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, कर्मरूप परिणमित होते हैं, उन मोह-राग-द्वेषरूप भावों को भावास्रव या जीवास्रव कहते हैं और कार्माण वर्गणाओं का ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन ही द्रव्यास्रव या अजीवास्रव है[३]।

मोह-राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर कर्माणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक हो जाना बंध है। यह भी दो प्रकार का होता है – द्रव्य बंध और भाव बंध। आत्मा के जिन

---

[१] देह जीव को एक गिने वहिरातम तत्त्व मुधा है।

– छहढाला, तृतीय ढाल, छन्द ४

[२] तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ।।

– छहढाला, द्वितीय ढाल, छन्द ५

[३] आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ।।

– द्रव्यसंग्रह, गाथा २९

शुभाशुभ विकारी भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का वंध होता है, उन भावों को भाव वंध कहते हैं और ज्ञानावरणादि कर्मो का वंधना द्रव्य वंध है[1]।

आस्रव और वंध को शुभ और अशुभ के भेदों में भी वर्गीकृत किया जाता है :– शुभास्रव – अशुभास्रव और शुभवंध – अशुभवंध। यद्यपि आस्रव और वंध तत्त्व हेय तत्त्व हैं; तथापि साधारण जन अशुभ आस्रव और अशुभवंध को तो हेय मान लेते हैं, किन्तु शुभास्रव और शुभवंध में उनकी उपादेय बुद्धि वनी रहती है। मुख्यतः पापवंध के कारणों को अशुभास्रव और पापवंध को अशुभवंध कहते हैं, इसी प्रकार पुण्यवंध के कारणों को शुभास्रव और पुण्यवंध को शुभवंध कहते हैं। पुण्योदय के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली भोग-सामग्री में रुचि वाले जीवों से शुभास्रव और शुभवंध में उपादेय बुद्धि नहीं छूटती है।

इस संदर्भ में आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी का कथन दृष्टव्य है :–

"तथा आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापस्रव हैं उन्हें हेय जानता है। अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं उन्हें उपादेय मानता है। परन्तु यह तो दोनों ही कर्मवंध के कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है। वही समयसार के वंधाधिकार में कहा है* –

---

[1] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३२

* समयसार गाथा २५४ से २५६ तथा–

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय,
कर्मोदयान्मरण-जीवित दुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान् मरण जीवितदुःखसौख्यम् ॥६॥

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरण-जीवित दुःख-सौख्यम्।
कर्म्माण्यहं कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥७॥

(समयसार कलश, वंधाधिकार)

सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीव के इन कार्यों का कर्त्ता हो, वही मिथ्याध्यवसाय बंध का कारण है। वहाँ अन्य जीवों को जिलाने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय हो वह तो पुण्यबंध का कारण है, और मारने का अथवा दुःखी करने का अध्यवसाय हो वह पापबंध का कारण है। – इस प्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबंध के कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबंध के कारण हैं। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं। इसलिए हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बंध का कारण जानकर हेय ही मानना[1]।"

पुण्य-पाप

पुण्य भाव और पाप भाव दोनों आत्मा की विकारी अन्तर्वृत्तियाँ हैं। देव पूजा, गुरु उपासना, दया, दान, व्रत, शील, संयमादि के प्रशस्त परिणाम पुण्य भाव कहे जाते हैं और इनका फल अनुकूल संयोगों की प्राप्ति है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह-संग्रह आदि के भाव पाप भाव हैं और इनका फल लौकिक प्रतिकूलताएँ हैं। पुण्य भावों से पुण्य कर्म का बंध होता है और पाप भावों से पाप कर्म बंधते हैं। इस प्रकार इनके भी द्रव्य पुण्य – भाव पुण्य, द्रव्य पाप – भाव पाप, ऐसे दो-दो भेद किए जा सकते हैं।

पुण्य और पाप वस्तुतः आस्रव और बंध के ही अवान्तर भेद हैं। इन्हें पृथक् से कथन करने का एक मात्र उद्देश्य इनकी ओर विशेष ध्यान आकर्षित करना ही है, कारण कि सामान्यजन इनके समझने में विशेष गलतियाँ करते हैं। वे पुण्य को भला और पाप को बुरा समझ लेते हैं, क्योंकि पुण्य से मनुष्य और देव गति की प्राप्ति होती है और पाप से नरक व तिर्यंच गति की।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२६

उनका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि चारों गतियाँ संसार है और संसार दुःखरूप ही है। पुण्य और पाप दोनों संसार के ही कारण हैं। संसार में प्रवेश कराने वाले पुण्य-पाप भले कैसे हो सकते हैं[1]। पुण्य पाप बंधरूप हैं और आत्मा का हित अबंध (मोक्ष) दशा प्राप्त करने में है। यद्यपि पाप की अपेक्षा पुण्य को भला कहा गया है, किन्तु मुक्ति के मार्ग में उसका स्थान अभावात्मक ही है।

इस संदर्भ में योगीन्दुदेव 'योगसार' में लिखते हैं :-

पुण्णि पावइ सग्ग जिउ, पावएँ णरय-णिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणई, तो लभई सिव वासु ॥३२॥

पुण्य से जीव स्वर्ग पाता है और पाप से नरक। जो इन दोनों को छोड़कर आत्मा को जानता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रव और बंध में किस प्रकार होता है, इसे निम्नलिखित चार्ट द्वारा आसानी से समझा जा सकता है :-

शुभ भावों से पुण्यास्रव और पुण्यबंध होता है तथा अशुभ भावों से पापास्रव और पापबंध होता है। बंध चाहे पुण्य का हो या पाप का, वह है तो आखिर बंध ही। उससे आत्मा बंधता ही है, मुक्त तो नहीं
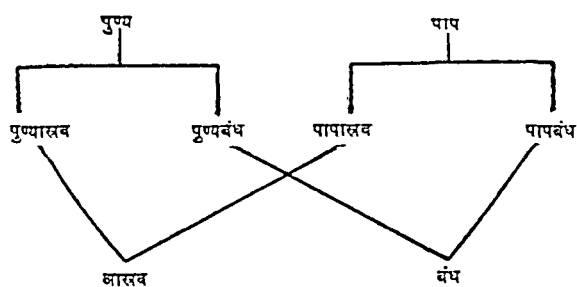
---

[1] कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥

—समयसार, गाथा १४५

निर्जरा तत्त्व

द्रव्य और भावकर्मों के बंध का एकदेश अभाव होना ही निर्जरा है। निर्जरा भी दो प्रकार की होती है – द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। आत्मा के जो शुद्ध भाव कर्मों के झड़ने में हेतु हैं, वे भाव ही भाव निर्जरा हैं और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का झड़ना द्रव्य निर्जरा है[१]।

चैतन्यस्वभावी त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व के आश्रय से होने वाली अकषाय भावरूप शुद्धि की वृद्धि ही निर्जरा तत्त्व है। निर्जरा संवर-पूर्वक ही होती है।

समय पूर्ण होने पर या मंदकषायादि का कारण पाकर भी कर्म झड़ते हैं। यद्यपि इन्हें क्रमशः सविपाक निर्जरा और अकाम निर्जरा कहा गया है, तथापि मोक्षमार्ग में जो निर्जरा तत्त्व आता है उसका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उनसे आत्मा के मुक्तिरूपी कार्य में कोई योग नहीं मिलता है। कहा भी गया है :–

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तपकरि जो कर्म खपावै, सोई शिव सुख दरसावै[२] ॥

वह निर्जरा तप से होती है[३]। इच्छाओं के निरोध का नाम तप है[४]। इसे ही यदि अस्तिरूप में कहें तो 'चैतन्यस्वरूप में निस्तरंग स्थिरता ही तप है'[५]। दोनों ही परिभाषाओं को मिला देने पर 'चैतन्य-स्वरूप में निस्तरंग स्थिरता से इच्छाओं-आकांक्षाओं को रोकना तप है। वह तप अंतरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है तथा प्रत्येक के अवान्तर छः-छः भेद होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर तप बारह प्रकार का है।

---

[१] द्रव्यसंग्रह, गाथा ३६

[२] छहढाला, पांचवी ढाल, छन्द ११

[३] तपसा निर्जरा च। – तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र ३

[४] इच्छानिरोधस्तपः। – मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३० पर उद्धृत

[५] स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनात् तपः।

– प्रवचनसार गाथा १४ की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश, ये बाह्य तप हैं[१] ।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युतसर्ग और ध्यान, ये अंतरंग तप हैं[२] ।

इन सब के विस्तृत विवेचन को तो यहाँ अवकाश नहीं है, किन्तु इतना समझ लेना आवश्यक है कि अंतर्बाह्य में से कोई भी तप क्यों न हो, उसमें आत्मा के शुद्ध स्वभाव के आश्रय से इच्छाओं का निरोध अवश्य होना चाहिए, अन्यथा वह तप नहीं कहा जा सकता है क्योंकि तप की मूल परिभाषा उसमें घटित होना ही चाहिए ।

तप आत्मा की वीतराग परिणतिरूप शुद्ध भाव का नाम है । अनशनादि बहिरंग और प्रायश्चित्त आदि अंतरंग तप जिस रूप में वीतराग भाव के पोषक हैं, उसी रूप में वे तप हैं । कोई वीतराग भाव रूप तप को तो न जाने और बाह्यरूप से इन्हीं को करता रहे तो उसके निर्जरा नहीं होगी[३], क्योंकि निर्जरा का कारण तो शुद्ध भावरूप निश्चय तप ही है । सच्चा तप सम्यग्दृष्टि के ही होता है ।

उपवासादि क्रियायें अज्ञानी भी करते हैं, किन्तु उनके ख्याल में उपवासादि तपों का सच्चा स्वरूप तो आता नहीं है और भोजनादि त्यागरूप बाह्य क्रिया को उपवासादि तप मान लेते हैं । जैसे – कषायों, भोगों और भोजन के त्याग का नाम उपवास है[४], किन्तु मात्र भोजन के त्याग को उपवास मान लिया जाता है, परिणामों में भोगों की वांछा और कषायों की ज्वाला कितनी ही क्यों न जलती रहे, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता । आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने उनकी स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है :–

---

[१] तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र १९

[२] वही, अ० ९, सूत्र २०

[३] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३३

[४] कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥

– मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३१ पर उद्धृत

होते हैं[1]। सभी भगवान हितोपदेशी नहीं होते हैं। सिद्ध भगवान के तो वाणी का संयोग है ही नहीं। सच्चे देव की परिभाषा में हितोपदेशी विशेषण आप्त की अपेक्षा से है। वीतरागी तथा सर्वज्ञ ये विशेषण तो समस्त अरहन्त-सिद्ध परमात्माओं में पाये जाते हैं।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए सच्चे देव का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार "जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त को जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है और उसका दर्शनमोह नष्ट हो जाता है अर्थात् वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है[2]।"

सच्चे देव अर्थात् आप्त की परिभाषा में समागत तीनों विशेषणों को सही रूप में जानने के लिए उनका स्वरूप जानना आवश्यक है।

पहिला विशेषण है वीतराग – जो राग-द्वेष-मोह, जन्म-मरण, भूख-प्यास आदि अठारह दोषों[3] से रहित हों, उन्हें वीतराग कहते हैं[4]।

वीतरागी परमात्मा का उपासक ही वीतरागता का उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान का उपासक नहीं हो सकता। वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।

---

[1] आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत॥
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ५

[2] जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥
– प्रवचनसार, ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार, गाथा ८०

[3] जनम जरा तिरषा क्षुधा विस्मय आरत खेद।
रोग शोक मद मोह भय निद्रा चिंता स्वेद॥
राग द्वेष अरु मरण जुत, यह अष्टादश दोष।
नाहिं होत अरहंत के सो छवि लायक मोष॥

[4] क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ६

वीतरागी भगवान का सच्चा स्वरूप नहीं समझ पाने के कारण उपासना में अनेक विकृतियाँ आ जाना सम्भव है। यही कारण है कि आज हम देव-मूर्तियों में वीतरागता न देखकर चमत्कार देखने लगे हैं और 'चमत्कार को नमस्कार' की लोकोक्ति के अनुसार जिस मूर्ति और मन्दिर के साथ चमत्कारिक कथायें जुड़ी पाते हैं, उन मंदिरों में विशेषकर उन मूर्तियों के समक्ष तथाकथित भक्तों की भीड़ अधिकाधिक दिखाई देती है। जिनके साथ लौकिक समृद्धि, संतानादि की प्राप्ति की कल्पनाएँ प्रसारित हैं, वहाँ तो खड़े होने तक को स्थान नहीं मिलता और शेष मन्दिर खण्डहर होते जा रहे हैं – वहाँ की मूर्तियों की धूल साफ करने वाला भी दिखाई नहीं देता।

एक भगवान महावीर की हजारों मूर्तियाँ हैं। उन सब मूर्तियों के माध्यम से हम महावीर की पूजा करते हैं। पृथक्-पृथक् मन्दिरों में पृथक्-पृथक् मूर्तियों के माध्यम से पूजे जाने वाले भगवान महावीर पृथक्-पृथक् नहीं, वरन् एक हैं। भगवान महावीर अपनी वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता के कारण पूज्य हैं, कोई लौकिक चमत्कारों और सन्तान, धन आदि देने के कारण नहीं। जो महान आत्मा स्वयं धनादि और घरबार छोड़कर आत्मसाधना-रत हुए हों, उनसे ही धनादिक की चाह करना कितना हास्यास्पद है। उनको भोगादि का देने वाला कहना उनकी वीतरागता की मूर्ति को खण्डित करना है।

एक तो वीतरागी भगवान प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते ही नहीं हैं और न अप्रसन्न होकर किसी का विगाड़ ही करते हैं। दूसरे यदि भोले जीवों की कल्पनानुसार उन्हें सुख-दुःख देने वाला भी मान लिया जाय तो भी यह कैसे सम्भव है कि वे अमुक मूर्ति के माध्यम से ही कुछ देंगे, अन्य मूर्ति के माध्यम से नहीं। यदि यह कहा जाय कि वे तो कुछ नहीं देते किन्तु उनके उपासक को सहज ही पुण्यबंध होता है तो क्या अमुक मूर्ति की पूजा करने से या अमुक मन्दिर में घृतादिक के दीपक रखने से ही पुण्य बंधेगा, अन्य मंदिरों में या अन्य मूर्तियों के सामने नहीं।

भोले भक्तों ने अपनी कल्पना के अनुसार तीर्थंकर भगवन्तों में भी भेद-भाव कर डाला है। उनके अनुसार पार्श्वनाथ रक्षा करते हैं

"तथा अरहन्तादिक के नाम-पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अर्थ व धनादि की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्त्ता हैं नहीं। अरहंतादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहंतादिक की भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ। कांक्षा-विचिकित्सारूप भाव हुए, उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे[1] ?"

सच्चे देव का दूसरा विशेषण है सर्वज्ञ। अलोकाकाश सहित तीनलोक व तीनकाल के समस्त पदार्थों को उनके गुण-पर्यायों सहित एक समय में पूर्णतः जानें, वे सर्वज्ञ हैं[2]। लोक में सब मिलाकर अनन्तानन्त द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्तगुण हैं और प्रत्येक गुण की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। उन समस्त द्रव्यों, गुणों और पर्यायों को सर्वज्ञ भगवान एक समय में इन्द्रियादिक की सहायता के बिना परिपूर्ण रूप से जानते हैं। समस्त जगत में जो कुछ हो चुका है, हो रहा है और भविष्य काल में जो कुछ भी होने वाला है, सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में वह सब वर्तमान में वर्तमानवत् ही स्पष्ट झलकता है।

'जो सबको जाने सो सर्वज्ञ'। सामान्यरूप से इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर भी सर्वज्ञत्व के प्रति सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान न होने के कारण जब उनके सामने यह बात आती है कि :-

जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ न होसी, काहे होत अधीरा रे।।

वीतराग-सर्वज्ञ देव ने भविष्य के संबंध में जो-जो देखा – जाना है, वही होगा, अन्यथा नहीं हो सकता है; अतः अधीर होने की आवश्यकता नहीं है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२२

[2] सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। – तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २९

यह सुनकर वे एकदम चौंक उठते हैं कि तब तो हमारा परिणमन भगवान के ज्ञान के आधीन होगया, हम जो चाहें वह नहीं कर सकते। हम तो परतन्त्र हो गये। उनकी समझ में यह नहीं आता कि भगवान के ज्ञान के आधीन वस्तु का परिणमन नहीं है। जिस रूप में वस्तु स्वयं परिणमित हुई थी, हो रही है, और होगी, भगवान ने तो उसको उस रूप में मात्र जाना है।

ज्ञान तो 'पर' को मात्र जानता है, परिणमाता नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान के आधीन वस्तु नहीं है, उसी प्रकार वस्तु के आधीन ज्ञान भी नहीं है। दोनों का स्वतंत्र परिणमन अपने-अपने कारण होता है। ज्ञान के जान लेने से वस्तु की स्वतंत्रता कैसे खण्डित हो जावेगी ? स्वतंत्रता ज्ञान से नहीं, अपने अज्ञान से खण्डित होती है। ज्ञान ने तो वस्तु के परिणमन में किसी प्रकार के हस्तक्षेप किए बिना मात्र उसको जाना है।

उन्हें सर्वज्ञता की वास्तविक श्रद्धा तो होती नहीं, किंतु शास्त्रों में लिखा है कि भगवान वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं; अतः उन्हें सर्वज्ञ माने बिना भी रहा जाता नहीं। यही कारण है कि वे सर्वज्ञता की व्याख्या में अपनी रुचि के अनुसार कल्पनाएँ करते हैं। कहते हैं कि भूतकाल और वर्तमान में तो जो कुछ होना था, हो चुका या हो रहा है, उसे तो भगवान निश्चित रूप से जानते हैं; किन्तु भविष्य तो अभी घटित ही नहीं हुआ, उसके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से ऐसा ही होगा। भविष्य को निश्चित मानने में उन्हें स्वतंत्रता खण्डित होती लगती है। कहते हैं कि जब भविष्य निश्चित ही नहीं है तो उसको निश्चित कैसे जाना जा सकता है, अतः उसे सर्वज्ञ सशर्त जानते होंगे।

ज्ञान अनिश्चयात्मक न होकर निश्चयात्मक होता है। भविष्य को अनिश्चित मानने पर ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान भी काल्पनिक सिद्ध होंगे जब कि सूर्यग्रहण आदि की घोषणाएँ वर्षों पहिले कर दी जाती हैं और वे सत्य निकलती हैं। लाखों वर्षों आगे की भविष्य की निश्चित घोषणाओं से आगम भरे पड़े हैं और वे घोषणाएँ भी

'ऐसा ही होगा' की भाषा में हैं, अत: निश्चित भविष्यज्ञता में शंका होने पर समस्त आगम का महल ध्वस्त होता नजर आयेगा। इसलिए सच्चे देव का स्वरूप समझने के लिए सर्वज्ञता का निर्णय अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वही धर्म का मूल है।

सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता के सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य देव का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है :-

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति[1] ॥

यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत) की पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

आचार्य अमृतचन्द्र ने समस्त ज्ञेयों को एक क्षण में सम्पूर्ण गुण और पर्यायों सहित अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष जानने की चर्चा इस प्रकार की है :-

"एक ज्ञायक भाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमश: प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाध स्वभाव और गम्भीर समस्त द्रव्यमात्र को – मानों वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुये हों, इस प्रकार – एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है,[2]"...

आत्मा का स्वभाव समस्त ज्ञेयों को एक समय में जानने का है। अत: जब आत्मा के ज्ञान गुण की पूर्णविकसित शुद्ध पर्याय केवलज्ञान प्रगट हो जाती है तो उसमें समस्त लोकालोक सहज ही प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। सर्वज्ञता की सिद्धि आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में, उसकी टीका 'अष्टशती' में आचार्य अकलंकदेव ने एवं 'अष्टसहस्री' में आचार्य विद्यानन्दि ने विस्तार से की है। अन्य जैन न्याय-ग्रंथों में भी इस पर प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासु बंधुओं को अपनी विशेष जिज्ञासा वहाँ से शान्त करना चाहिए।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा २९

[2] वही, गाथा २०० की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका

आप्त का तीसरा विशेषण है हितोपदेशी । आत्मा का हित सच्चे सुख की प्राप्ति में ही है और सच्चा सुख निराकुलता में ही होता है। आकुलता मुक्ति में नहीं है, अतः मुक्ति के मार्ग में लगना ही प्रत्येक सुखाभिलाषी का कर्त्तव्य है[१] । मुक्ति के मार्ग का उपदेश ही हितोपदेश है। अरहन्त भगवान की दिव्य-वाणी में मुक्ति के मार्ग का ही उपदेश आता है, अतः वे ही हितोपदेशी हैं । उनकी वाणी के अनुसार ही समस्त जिनागम लिखा गया है, अतः शास्त्र का सही स्वरूप जानना ही हितोपदेशी विशेषण का सही ज्ञान है ।

शास्त्र

आप्त के वचन आदि हैं हेतु जिसमें, ऐसे पदार्थ के ज्ञान को आगम या शास्त्र कहते हैं[२] । अरहन्त परमात्मा की पवित्र वाणी में समागत पूर्वापर विरोध रहित तत्त्वार्थों का शुद्ध प्रतिपादन ही आगम है[३] । आप्त वीतरागी और पूर्ण ज्ञानी होते हैं, अतः उनका हितोपदेश अर्थात् उनकी वाणी भी वीतरागता की पोषक और पूर्णता की ओर ले जाने वाली होती है । वाणी में पूर्वापर विरोध का अभाव एवं वीतरागता का पोषण देखकर वक्ता की सर्वज्ञता एवं वीतरागता का निर्णय होता है और उसके बाद वक्ता से वाणी में प्रामाणिकता आती है ।

समस्त जिनागम का निर्माण वीतरागी-सर्वज्ञ वक्ता की वाणी के आधार पर वीतरागता के मार्ग पर चलने वाले सम्यग्ज्ञानी सन्तों द्वारा होता है, अतः समस्त जिनागम के मूलकर्त्ता तो सर्वज्ञ देव ही

---

१ आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिए ।
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिए ।।

— छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १

२ आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः ।।

— परीक्षामुख, अ० ३, सूत्र ९५

३ तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ।।

— नियमसार, जीवाधिकार, गाथा ८

कहे जाते हैं[१]; उसके आगे उत्तरोतर ग्रन्थकर्त्ताओं में गणधर देव, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी एवं उनकी परम्परा में सम्यग्ज्ञानी श्रावक भी आते हैं। पर समस्त जिनागम की प्रामाणिकता का आधार वीतरागी और सर्वज्ञ परमात्मा ही हैं। अन्य ग्रन्थकारों की प्रामाणिकता वीतरागी और सर्वज्ञ प्रभु की वाणी की अनुकूलता के आधार पर ही है।

वीतराग की वाणी होने से जिनवाणी की पंक्ति-पंक्ति वीतरागता की पोषक होती है। जो वाणी राग-द्वेष आदि भावों को धर्म (मुक्ति का मार्ग) बताए, वह वाणी जिनवाणी (शास्त्र) नहीं हो सकती। समस्त जिनवाणी का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है[२]। वीतरागता ही परम धर्म है, अतः चारों अनुयोगों में वीतरागता की ही पुष्टि की गई है।

कहीं तो पूर्ण राग त्याग की बात कही गई है, और यदि कहीं पूर्ण राग छूटता सम्भव दिखाई नहीं दिया तो अधिक राग छोड़कर अल्प राग करने की सलाह दी गई है, पर रागादिभाव बढ़ाने को कहीं भी अच्छा नहीं बताया गया है[३]। जिसमें राग का पोषण हो वह शास्त्र जैनशास्त्र नहीं है।

शास्त्रों का सही स्वरूप समझने के साथ-साथ उनके कथनों का मर्म जानने के लिए उनके अर्थ करने की पद्धति से भी परिचित होना अत्यावश्यक है, अन्यथा उनका सही मर्म न समझ पाने के कारण लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। जैसे औषधि-विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों में अनेक प्रकार की औषधियों का वर्णन होता है। यद्यपि सभी औषधियाँ रोगों को मिटाने वाली ही हैं, तथापि प्रत्येक औषधि हर

---

[१] जिन-शास्त्रों पर प्रवचन करने के पूर्व निम्नलिखितानुसार मंगलाचरण के रूप में बोलना आवश्यक है और प्रत्येक प्रवचनकार बोलता भी है :–

·········मिदं शास्त्रं (शास्त्र का नाम) नामधेयं अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्तारः श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य कुन्दकुन्दाम्नाये (ग्रंथकार का नाम) विरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।

[२] पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १७२ की 'समयव्याख्या' टीका

[३] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३०३

एक रोगी के काम की नहीं हो सकती। विशेष रोग एवं व्यक्ति के लिए विशेष औषधि विशिष्ट अनुपान के साथ निश्चित मात्रा में ही उपयोगी होती है। यही बात शास्त्रों के कथनों पर भी लागू होती है। अतः उनके मर्म को समझने में पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिये, अन्यथा गलत औषधि सेवन के समान लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

जैन शास्त्रों के कथन करने की एक पद्धति है – निश्चय और व्यवहार नयों द्वारा वस्तुस्वरूप प्रतिपादन करने की। जिनागम का रहस्य जानने के लिए इन दोनों नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि समस्त जिनागम में निश्चय-व्यवहाररूप कथन है। दूसरे जिनागम को चार अनुयोगों की पद्धति में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक अनुयोग की अपनी-अपनी पद्धति अलग-अलग है।

जब तक हम उक्त दोनों प्रकार की शैलियों से परिचित न होंगे, जिनवाणी का मर्म नहीं समझ पायेंगे। इन दोनों पद्धतियों के विस्तृत विवेचन को यहाँ अवकाश नहीं है, उन्हें विस्तार से जानने के लिए मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें व आठवें अधिकार का अध्ययन करना चाहिए। सातवें अधिकार के उभयाभासी के प्रकरण में निश्चय-व्यवहार शैली एवं आठवें अधिकार में चारों अनुयोगों वाली पद्धति के सम्बन्ध में प्रामाणिक, सर्वाङ्ग और विस्तृत विवेचन किया गया है।

शास्त्रों में उल्लिखित विषयों को उसके पूर्वापर प्रसंग और संदर्भ में समझना बहुत आवश्यक है, अन्यथा उसका सही भाव समझ पाना सम्भव नहीं होगा। शास्त्र स्वयं बोलते नहीं हैं, उनका मर्म हमें स्वयं या योग्य ज्ञानियों के सहयोग से निकालना पड़ता है।

शास्त्रों के माध्यम से हम हजारों वर्ष पुराने आचार्यों के सीधे सम्पर्क में आते हैं। हमें उनके अनुभव का लाभ मिलता है। लोकालोक का प्रत्यक्ष ज्ञान तो हमें परमात्मा बनने पर ही प्राप्त हो सकेगा, किन्तु परोक्षरूप से वह हमें जिनवाणी द्वारा प्राप्त हो जाता है। सर्वज्ञ भगवान के इस क्षेत्र-काल में अभाव होने एवं आत्मज्ञानियों की विरलता होने से एक जिनवाणी ही शरण है।

गुरु

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा जो महान वन चुके हैं, उनको गुरु कहते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं[१]। पंचेन्द्रियों के विषयों की आशा से रहित, सर्व प्रकार के आरंभ और परिग्रह से रहित, ज्ञान, ध्यान और तप में सदा लीन रहने वाले तपस्वी साधु ही गुरु हैं[२]।

निरन्तर आत्मस्वरूप की साधना करने वाले साधुओं के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी लिखते हैं :–

"जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके शुद्धोपयोग-रूप मुनिधर्म अंगीकार करके अंतरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने को आपरूप अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते तथा अपने ज्ञानादिक स्वभाव को ही अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं उन्हें जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते, शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, वाह्य नाना निमित्त वनते हैं, परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते, तथा अपने योग्य वाह्य क्रिया जैसे वनती हैं वैसे वनती हैं, खींचकर उनको नहीं करते, तथा अपने उपयोग को वहुत नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चलवृत्ति को धारण करते हैं, तथा कदाचित् मंदराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है उससे जो शुद्धोपयोग के वाह्य साधन हैं उनमें अनुराग करते हैं, परन्तु उस रागभाव को हेय जानकर दूर करना चाहते हैं, तथा तीव्र कषाय के उदय का अभाव होने से हिंसादि रूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है; तथा ऐसी अंतरंग (अवस्था) होने पर वाह्य दिगम्वर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं, शरीर का सँवारना आदि

---

[१] भगवती आराधना, पृष्ठ ५११

[२] विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

— रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १०

वे मुनिवर कब मिलि हैं उपगारी ॥ टेक ॥
साधु दिगम्बर नगन निरम्बर, संवर भूषणधारी ॥ वे० ॥१॥
कंचन काच बराबर जिनकै, ज्यौं रिपु त्यौं हितकारी ।
महल मसान मरन अरु जीवन, सम गरिमा अरु गारी ॥ वे० ॥२॥
सम्यग्ज्ञान प्रधान पवन बल, तप पावक परजारी ।
शोधत जीव सुवर्ण सदा जे, काय-कारिमा टारी ॥ वे० ॥३॥
जोरि जुगल कर 'भूधर' विनवै, तिन पद ढोक हमारी ।
भाग उदय दरसन जब पाऊँ, ता दिन की बलिहारी[1] ॥ वे० ॥४॥

भेद-विज्ञान

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में सप्त-तत्त्वार्थ एवं देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान के पश्चात् तीसरी प्रमुख बात है भेद-विज्ञान । जिनागम में भेद-विज्ञान की महिमा को अचिन्त्य माना गया है । कहा गया है कि जितने भी जीव आज तक सिद्ध (मुक्त) हुए हैं, वे सब भेद-विज्ञान से ही हुए हैं और जितने भी संसार में दुःखी होकर भटक रहे हैं, वे सब भेद-विज्ञान के न होने से ही भटक रहे हैं[2] । शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति से साक्षात् संवर होता है और शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति भेद-विज्ञान से होती है, अतः भेद-विज्ञान ही अत्यन्त भाने योग्य है[3] । इस भेद-विज्ञान को लगातार तब तक भाना चाहिये जब तक कि पर भावों से छूटकर ज्ञान, ज्ञान (आत्मा) में प्रतिष्ठित न हो जावे[4] ।

महाकवि बनारसीदास ने निजगुणरूपी-वस्त्रों को धोने के लिए भेद-विज्ञान को साबुन के समान बताया है । वे लिखते हैं :—

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर ।
धोबी अन्तर आतमा, धोवै निजगुन चीर[5] ॥

---

[1] भक्ति-पाठ-संग्रह, पृष्ठ २५

[2] भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ —समयसार, कलश १३१

[3] वही, कलश १२९

[4] वही, कलश १३०

[5] नाटक समयसार, संवर द्वार, छन्द ६

चेतन और जड़ तथा स्वभाव और विभाव की भिन्नता दर्शाने को भेद-विज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला आरा है। जिनके हृदय में भेद-विज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है उन्हें परसंग अच्छा नहीं लगता है। वे आत्मा का अनुभव करके नित्य प्रसन्न रहते हैं और परमात्मा के स्वरूप को अच्छी तरह पहचानते हैं[1]।

पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान 'स्व' और 'पर' के बीच किया जाता है, अतः इसे स्वपर-भेदविज्ञान भी कहा जाता है। वस्तुतः यह आत्म-विज्ञान ही है, क्योंकि इसमें पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही मूल प्रयोजन है।

भेद-विज्ञान में मूल बात दोनों को मात्र जानना या एकसा जानना नहीं, भिन्न-भिन्न जानना है। भिन्न-भिन्न जानना भी नहीं, पर से भिन्न स्व को जानना है। पर को छोड़ने के लिए जानना है और स्व को पकड़ने के लिए। पर को मात्र जानना है और स्व को जानकर उसमें जमना है, रमना है। स्व और पर को जानने का आशय उनके भेद-प्रभेदों के विकल्पजाल में उलझने से नहीं, किन्तु समस्त भेद जिसमें समा गये हैं – ऐसे अभेद, अखण्ड आत्मा को अखण्डपने जानने से है।

दृष्टि की अपेक्षा त्रिकाली ज्ञानानन्द-स्वभावी ध्रुव चैतन्य निज तत्त्व ही स्व है। सब पुद्गलादि अचेतन पदार्थ, उनके गुण, उनकी पर्यायें तो 'पर' हैं ही, साथ ही आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावरूप आस्रव, बंध, पुण्य-पाप तत्त्व भी 'पर' हैं। यहाँ तक कि संवर, निर्जरा और मोक्षरूप अविकारी पर्यायें भी 'पर' की ही कोटि में आती हैं, क्योंकि इन्हें जीव तत्त्व में शामिल मान लेने पर संवरादि तत्त्व जुदे नहीं बनेंगे।

---

[1] सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित, भेद-विग्यान सुतीछण आरा।
अंतरभेद सुभाव विभाउ, करै जड़-चेतनरूप दुफारा॥
सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ, न रुचै तिन्हकौ परसंग-सहारा।
आतमकौ अनुभौ करि ते, हरखैं परखैं परमातम-धारा॥

नाटक समयसार, संवर द्वार, छन्द ३

समस्त पर-जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष पर्याय-तत्त्वों से दृष्टि हटाकर इनसे भिन्न निजात्म ध्रुव तत्त्व में दृष्टि और ज्ञान को केन्द्रित करना ही स्वपर-भेदविज्ञान है।

आत्मार्थी पर को भी जानते हैं, पर उससे कुछ पाने के लिए नहीं, अपनाने के लिए भी नहीं; 'पर' से भिन्न 'स्व' की पहचान के लिए ही वे पर को जानते हैं।

उनका पर को जानना भी स्व की खोज है, क्योंकि उन्हें पर से भिन्न आत्मा को जानना है; पर को न जानेंगे तो उसमें आत्मबुद्धि हो सकती है। जिससे भिन्न जानना है, उसे भी जानना होगा, पर उसे जानने के लिए नहीं; आत्मा को जानने में भूल न हो जावे, मात्र इसलिए उसे जानना है।

'पर' को जानना है, पर हेय बुद्धि से जानना है। जैसे – जिसकी माँ खो गई है ऐसा बालक अपनी माँ की खोज के प्रयत्न में अनेक महिलाओं को देखता है, पर उन पर उसकी दृष्टि जमती नहीं। यह जानते ही कि यह मेरी माँ नहीं है, तत्काल उनसे उसकी दृष्टि हट जाती है; पर जब उसकी माँ मिल जाय तो उसे देखकर उस पर से वह दृष्टि हटाता नहीं, उसे देखता ही रहता है, उससे लिपट जाता है, उसमें समा जाना चाहता है। उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा यद्यपि पर को जानता है तथापि उसकी दृष्टि पर में जमती नहीं, रमती नहीं।

यद्यपि खोज की प्रक्रिया व खोज को भी व्यवहार से भेद-विज्ञान कहा जाता है, तथापि जिसे खोजना है उसी में खो जाना ही वास्तविक भेद-विज्ञान है अर्थात् निज-अभेद में खो जाना, समा जाना ही भेद-विज्ञान है।

भेद-विज्ञानी जीव की दृष्टि अविकृत होती है। वह आत्मा को रागी-द्वेषी अनुभव नहीं करता और न ही वह आत्मा को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आदि भेदों में अनुभव करता है। अनुभव में अशुद्धता और भेद नजर नहीं आता।

'तुम्हारी माँ कैसी है ?' खोये हुए बालक से पूछे जाने पर वह इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर देगा कि 'माँ, माँ जैसी है'। उसका

यदि उसकी माँ सामने आ जाय तो क्या वह उसे नहीं पहचान पायगा ? अवश्य ही पहचान लेगा।

भले ही वह माँ की पहचान को भाषा न दे सकता हो, पर वह माँ को पहचानता ही नहीं, यह कहना गलत है, एकदम गलत है। पहचानना अलग चीज है और पहचान को भाषा देना अलग चीज है। हो सकता है उसकी माँ का गाँव, योग्यता, रूप-रंग, कद आदि को जानने वाला उसकी माँ को सही रूप में पहचानता ही न हो। कम से कम उसकी माँ के माँ-पन को जितनी अच्छी तरह वह जानता है, उतनी अच्छी तरह अन्य कोई नहीं जान सकता।

उसके लिए उसकी माँ 'माँ' है और कुछ नहीं। वह माँ के माँ-पन को पहचानता है और कुछ नहीं, और कुछ पहचानने की उसे आवश्यकता ही नहीं। उसके लिए उसका माँ-पन ही पर्याप्त है। यद्यपि वह उसके पिता की पत्नी भी है, पर उसे क्या ? उसे उसके पत्नी-पन से कोई मतलब ही नहीं, उसे तो उसका माँ-पन पर्याप्त है।

इसी प्रकार आत्मानुभवी पुरुष से कोई पूछे कि आत्मा कैसा होता है ? तो वह यही उत्तर देगा कि 'आत्मा–आत्मा जैसा है' और कहे भी क्या ? वह रागी-द्वेषी-मोही, क्रोधी, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि आदि कैसा है ? हो सकता है कि इसका वह कुछ भी उत्तर न दे सके, क्योंकि उसने अनुभव में आत्मा को इस रूप में देखा ही नहीं; उसने तो शुद्ध-बुद्ध ही देखा है, जाना है, अनुभव किया है, राग-द्वेष-मोहादि से भिन्न ही अनुभव किया है।

हो सकता है अज्ञानी ने उसे इन रूपों में देखा-जाना हो, वह उसकी दृष्टि के विकार का परिणाम है, उस जैसी विकारी दृष्टि ज्ञानी के पास है ही नहीं, उसने आत्मा को इस रूप में देखा जाना ही नहीं। राग-द्वेष की भाषा में वह आत्मा को कैसे कहे, कैसे समझाये ?

पर्याय-दृष्टि से देखने पर आत्मा में राग-द्वेष नजर आते हैं, पर द्रव्यदृष्टिवंत के पर्याय-दृष्टि इतनी गौण हो गई है, विशेषकर अनुभूति के काल में, कि उसमें विकार दृष्टिगत होता ही नहीं है। उसे विकार से क्या ? होगा तो होगा।

लोग कह सकते हैं कि जब यह आत्मा में राग-द्वेष को ही स्वीकार नहीं करता तो यह आत्मा को जानता ही नहीं। पर क्या आत्मा को जानने के लिए आत्मा में राग-द्वेष की अनुभूति आवश्यक है? यद्यपि वह जानता है कि पर्याय में उनकी भी सत्ता है। है तो रहा करे, उसे क्या? ज्ञानी ने तो राग-द्वेष के माध्यम से आत्मा को जाना ही नहीं। वे होंगे, तो होंगे। उनसे उसे क्या प्रयोजन है? वह विचारता है कि 'मैं तो ज्ञान-दर्शन-स्वभावी ध्रुव तत्त्व हूँ, मेरे में तो उनका प्रवेश ही नहीं'।

हो सकता है आत्मानुभवी जीव 'आत्मा क्या है'? इसे भाषा में व्यक्त न कर सके, पर क्या आत्मानुभव के लिए भाषा की आवश्यकता है? आत्मानुभव अलग वस्तु है और उसे भाषा में व्यक्त करना बिलकुल अलग चीज है।

यदि बालक को पुलिस के सहयोग से माँ मिल जाय तो वह माँ को देखकर अन्य महिलाओं के समान उससे दृष्टि हटायगा नहीं; जमाए ही रहेगा, उसके गले लग जायगा, उससे एकमेक हो जायगा। माँ बेटा-मय और बेटा माँ-मय हो जायेंगे। वे सब कुछ भूल जायगे। पुलिस वालों को भी धन्यवाद वे तब देंगे, जब वे कुछ समय बाद सहज हो जायेंगे। उस समय तो उन्हें किसी 'पर' की कोई सुध-बुध ही न रहेगी।

उसी प्रकार आत्मखोजी को जब आत्मोपलब्धि होती है, उस काल वे उसके निमित्त देव-शास्त्र-गुरु को भी भूल जाते हैं। वे तो आत्मा में तन्मय हो जाते हैं। पर्याय द्रव्य में अभेद हो जाती है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति तक का विकल्प टूट जाता है। जब कुछ काल बाद वे शुभोपभोग में आवेंगे तब व्यवहार में जागृत होंगे।

भेद-विज्ञानी का मार्ग स्व और पर को जानना मात्र नहीं है, स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; बल्कि पर से भिन्न स्व को जानना, मानना और अनुभवना है। यहाँ 'स्व' मुख्य है, 'पर' गौण। 'पर' गौण है, पूर्णतः गौण है, क्योंकि उसकी मुख्यता में 'स्व' गौण हो जाता है; जो कि ज्ञानी को कदापि इष्ट नहीं है।

ऐसे भेद-विज्ञानी आत्मार्थी जीव मुक्ति-मार्ग के पथिक जिनेश्वर के लघुनन्दन हैं। महाकवि पंडित बनारसीदास ने उनकी वंदना इस प्रकार की है :-

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हकै घट,
शीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करैं शिवमारग मैं,
जग माहिं जिनेश्वर के लघुनन्दन ॥
सत्य सरूप सदा जिन्हकै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
शान्त दशा तिन्हकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन[1] ॥

आत्मानुभूति

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अनिवार्य शर्त है आत्मानुभूति का प्राप्त होना। आत्मानुभूति के बिना समस्त प्रयत्न निरर्थक हैं। स्वानुभूति से ही और सब सनाथ हैं[2]। आत्मानुभूति को स्वानुभूति भी कहते हैं क्योंकि अनुभूति अपने आत्मा की ही होती है, अन्य आत्मा की नहीं। स्वानुभव, अनुभव आदि नामों से इसे अभिहित किया जाता है। ज्ञानी जीवों ने इसके गीत मुक्त कंठ से गाये हैं :-

अनुभव चिन्तामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख कौ, अनुभव मोख सरूप[3] ॥

अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोदसा सौं ऊरध की दौर है ॥

---

[1] नाटक समयसार, उत्थानिका, छन्द ६

[2] पंचाध्यायी, अ० २, श्लोक ४१५

[3] नाटक समयसार, उत्थानिका, छन्द १८

लोग कह सकते हैं कि जब यह आत्मा में राग-द्वेष को ही स्वीकार नहीं करता तो यह आत्मा को जानता ही नहीं। पर क्या आत्मा को जानने के लिए आत्मा में राग-द्वेष की अनुभूति आवश्यक है ? यद्यपि वह जानता है कि पर्याय में उनकी भी सत्ता है। है तो रहा करे, उसे क्या ? ज्ञानी ने तो राग-द्वेष के माध्यम से आत्मा को जाना ही नहीं। वे होंगे, तो होंगे। उनसे उसे क्या प्रयोजन है ? वह विचारता है कि 'मैं तो ज्ञान-दर्शन-स्वभावी ध्रुव तत्त्व हूँ, मेरे में तो उनका प्रवेश ही नहीं'।

हो सकता है आत्मानुभवी जीव 'आत्मा क्या है' ? इसे भाषा में व्यक्त न कर सके, पर क्या आत्मानुभव के लिए भाषा की आवश्यकता है ? आत्मानुभव अलग वस्तु है और उसे भाषा में व्यक्त करना बिलकुल अलग चीज है।

यदि बालक को पुलिस के सहयोग से माँ मिल जाय तो वह माँ को देखकर अन्य महिलाओं के समान उससे दृष्टि हटायगा नहीं; जमाए ही रहेगा, उसके गले लग जायगा, उससे एकमेक हो जायगा। माँ बेटा-मय और बेटा माँ-मय हो जायेंगे। वे सब कुछ भूल जायगे। पुलिस वालों को भी धन्यवाद वे तब देंगे, जब वे कुछ समय बाद सहज हो जायेंगे। उस समय तो उन्हें किसी 'पर' की कोई सुध-बुध ही न रहेगी।

उसी प्रकार आत्मखोजी को जब आत्मोपलब्धि होती है, उस काल वे उसके निमित्त देव-शास्त्र-गुरु को भी भूल जाते हैं। वे तो आत्मा में तन्मय हो जाते हैं। पर्याय द्रव्य में अभेद हो जाती है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति तक का विकल्प टूट जाता है। जब कुछ काल बाद वे शुभोपभोग में आवेंगे तब व्यवहार में जागृत होंगे।

भेद-विज्ञानी का मार्ग स्व और पर को जानना मात्र नहीं है, स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; बल्कि पर से भिन्न स्व को जानना, मानना और अनुभवना है। यहाँ 'स्व' मुख्य है, 'पर' गौण। 'पर' गौण है, पूर्णतः गौण है, क्योंकि उसकी मुख्यता में 'स्व' गौण हो जाता है; जो कि ज्ञानी को कदापि इष्ट नहीं है।

लोग कह सकते हैं कि जब तक आत्मा में राग-द्वेष को ही स्वीकार नहीं करेगा तो वह आत्मा को जानता ही नहीं। पर क्या आत्मा को जानने के लिए आत्मा में राग-द्वेष की अनुभूति आवश्यक है? यद्यपि वह जानता है कि पर्याय में उनकी भी सत्ता है। है तो रहा करे, उससे क्या? ज्ञानी ने तो राग-द्वेष के माध्यम से आत्मा को जाना ही नहीं। वे होंगे, तो होंगे। उनसे उसे क्या प्रयोजन है? वह विचारता है कि 'मैं तो ज्ञान-दर्शन-स्वभावी ध्रुव तत्त्व हूँ, मेरे में तो उनका प्रवेश ही नहीं'।

हो सकता है आत्मानुभवी जीव 'आत्मा क्या है'? इसे भाषा में व्यक्त न कर सके, पर क्या आत्मानुभव के लिए भाषा की आवश्यकता है? आत्मानुभव अलग वस्तु है और उसे भाषा में व्यक्त करना विलकुल अलग चीज है।

यदि वालक को पुलिस के सहयोग से माँ मिल जाय तो वह माँ को देखकर अन्य महिलाओं के समान उससे दृष्टि हटायगा नहीं; जमाए ही रहेगा, उसके गले लग जायगा, उससे एकमेक हो जायगा। माँ वेटा-मय और वेटा माँ-मय हो जायेंगे। वे सव कुछ भूल जायगे। पुलिस वालों को भी धन्यवाद वे तव देंगे, जव वे कुछ समय वाद सहज हो जायेंगे। उस समय तो उन्हें किसी 'पर' की कोई सुध-वुध ही न रहेगी।

उसी प्रकार आत्मखोजी को जव आत्मोपलब्धि होती है, उस काल वे उसके निमित्त देव-शास्त्र-गुरु को भी भूल जाते हैं। वे तो आत्मा में तन्मय हो जाते हैं। पर्याय द्रव्य में अभेद हो जाती है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति तक का विकल्प टूट जाता है। जव कुछ काल वाद वे शुभोपभोग में आवेंगे तव व्यवहार में जागृत होंगे।

भेद-विज्ञानी का मार्ग स्व और पर को जानना मात्र नहीं है, स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; वल्कि पर से भिन्न स्व को जानना, मानना और अनुभवना है। यहाँ 'स्व' मुख्य है, 'पर' गौण। 'पर' गौण है, पूर्णतः गौण है, क्योंकि उसकी मुख्यता में 'स्व' गौण हो जाता है; जो कि ज्ञानी को कदापि इष्ट नहीं है।

ऐसे भेद-विज्ञानी आत्मार्थी जीव मुक्ति-मार्ग के पथिक जिनेश्वर के लघुनन्दन हैं। महाकवि पंडित बनारसीदास ने उनकी वंदना इस प्रकार की है :-

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट,
शीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करैं शिवमारग मैं,
जग माहिं जिनेश्वर के लघुनन्दन ॥
सत्य सरूप सदा जिन्हकै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
शान्त दशा तिन्हकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन[1] ॥

आत्मानुभूति

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अनिवार्य शर्त है आत्मानुभूति का प्राप्त होना। आत्मानुभूति के बिना समस्त प्रयत्न निरर्थक हैं। स्वानुभूति से ही और सब सनाथ हैं[2]। आत्मानुभूति को स्वानुभूति भी कहते हैं क्योंकि अनुभूति अपने आत्मा की ही होती है, अन्य आत्मा की नहीं। स्वानुभव, अनुभव आदि नामों से इसे अभिहित किया जाता है। ज्ञानी जीवों ने इसके गीत मुक्त कंठ से गाये हैं :-

अनुभव चिन्तामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख कौ, अनुभव मोख सरूप[3] ॥

अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोदसा सौं ऊरध की दौर है ॥

---

[1] नाटक समयसार, उत्थानिका, छन्द ६
[2] पंचाध्यायी, अ० २, श्लोक ४१५
[3] नाटक समयसार, उत्थानिका, छन्द १८

जिस सम्यग्दर्शन के स्वरूप-निर्णय के लिये यहाँ सप्त-तत्त्व, देव-शास्त्र-गुरु, भेद-विज्ञान तथा आत्मानुभूति की चर्चा विस्तार से की है, उस सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे गये हैं :-

१. निःशंकित, २. निःकांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ़दृष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य, और ८. प्रभावना।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही ज्ञानी आत्मा के ये सहज ही प्रगट हो जाते हैं। परिणामस्वरूप उनके जीवन में सामान्यजन की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ प्रगट हो जाती हैं।

असीम निशंकता, भोगों के प्रति अनासक्ति, समस्त पदार्थों की विकृत-अविकृत दशाओं में समता भाव, वस्तुस्वरूप की पैनी पकड़, पर के दोषों के प्रति उपेक्षाभाव, आत्मशुद्धि की वृद्धिगत दशा, विश्वासों की दृढ़ता, परिणामों की स्थिरता, गुण और गुणियों में अनुराग, आत्मलीनता द्वारा अपनी और उपदेशादि द्वारा वस्तुतत्त्व की प्रभावना उनकी अपनी विशेषताएँ हैं।

मोक्षाभिलाषी को जैसे भी बने तैसे मर-पचकर भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। सम्यग्दर्शन की प्रतिज्ञा है कि :-

"मुझे ग्रहण करने से, ग्रहण करने वाले की इच्छा न होने पर भी, मुझे उसको बलात् मोक्ष ले जाना पड़ता है। इसलिए मुझे ग्रहण करने से पहले यदि वह विचार करे कि मोक्ष जाने की इच्छा बदल देंगे तो भी उससे काम नहीं चलेगा। मुझे ग्रहण करने के बाद, मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिए।

कदाचित् मुझे ग्रहण करने वाला शिथिल हो जाय तो भी यदि हो सका तो उसी भव में अन्यथा अधिक से अधिक पन्द्रह भव में मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिए।

कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे अथवा प्रबल से प्रबल मोह को धारण करे तो भी अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन के अन्दर मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिए, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है[1]।"

---

[1] श्रीमद्राजचन्द्र (सम्यग्दर्शन, पृष्ठ ९-१०)

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान आत्मा का गुण है। जानना उसकी पर्याय अर्थात् कार्य है। सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। ज्ञान का सम्यक् और मिथ्यापन का निर्णय लौकिक विषयों की सामान्य जानकारी की सच्चाई पर आधारित न होकर सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की उपस्थिति के आधार पर होता है।

मुक्ति के मार्ग में – अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी सत्य या असत्य कैसी ही क्यों न हो – आत्मानुभूति से सहित व्यक्ति का समस्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी चाहे सत्य ही क्यों न हो, यदि उसे आत्मानुभूति प्रगट नहीं हुई है तो, उसका समस्त ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहा जायगा। सम्यग्ज्ञान में 'सम्यक्' पद सम्यग्दर्शन की उपस्थिति का सूचक है और 'मिथ्या' शब्द मिथ्यादर्शन की[1]।

ज्ञान पांच प्रकार का होता है – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान क्रमशः सुमति, सुश्रुत, और सुअवधि कहे जाते हैं तथा मिथ्यादृष्टि के कुमति, कुश्रुत और कुअवधि। मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं, इसलिए उनमें इस प्रकार का भेद नहीं होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के पांच और मिथ्यादृष्टि के तीन – कुल ज्ञान आठ प्रकार के होते हैं[2]। इनमें सम्यग्दृष्टि के होने वाला पांच प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और मिथ्यादृष्टि के होने वाला तीन प्रकार का ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। इन सबका विस्तृत विवेचन जिन-शास्त्रों में उपलब्ध है।

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र ३१-३२ की टीका

[2] (क) णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥

— द्रव्यसंग्रह, गाथा ५

(ख) समयसार [illegible], गाथा २००-२०१

सम्यग्ज्ञान की परिभाषाएँ आगम में अनेक प्रकार से उपलब्ध होती हैं:-

(१) जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना, सम्यग्ज्ञान है[1]।

(२) जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता-रहित, अधिकता-रहित, विपरीतता-रहित, जैसा का तैसा सन्देह-रहित जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं[2]।

(३) आत्मा और अनात्मा का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है[3]।

(४) आत्मस्वरूप का जानना ही सम्यग्ज्ञान है[4]।

सम्यग्ज्ञान की जितनी भी परिभाषाएँ दी हैं उन सबमें कोई अंतर नहीं है। वे मात्र भिन्न-भिन्न प्रकरणों में विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखी गई हैं। सबसे यह तथ्य फलित होता है कि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवादि पदार्थों का विशेषकर आत्मतत्त्व का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। लौकिक पदार्थों के ज्ञान से इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

सम्यग्ज्ञान एक प्रकार से सच्चा तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान में परद्रव्यों का जानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि निज आत्मतत्त्व का।

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र १

[2] अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥

— रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ४२

[3] संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं तु॥

— द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२

[4] आपरूप को जानपनो, सो सम्यग्ज्ञान कला है।

— छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द २

बृहन्नयचक्र में कहा है – "जिनेन्द्र भगवान ने निजद्रव्य को जानने के लिए ही अन्य छः द्रव्यों का कथन किया है, अतः मात्र उन पर-रूप छः द्रव्यों का जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है[1] ।"

जिनागम में सम्यग्ज्ञान की महिमा का कथन बहुत उपलब्ध होता है। यथा –

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन,
इहि परमामृत जन्मजरामृतु-रोग-निवारन ॥४॥

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;
ज्ञानी के छिन में त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ॥५॥

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।

तास ज्ञान को कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ ॥७॥

जे पूरब शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहै हैं।

विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुझावै[2] ॥८॥

महिमा सम्यग्ज्ञान की, अरु विरागबल जोय।
क्रिया करत फल भुंजतैं, करमबंध नहिं होय[3] ॥

बहुविधि क्रिया कलेश सौं, शिवपद लहै न कोय।
ज्ञानकला परकाशसौं, सहज मोख पद होय[4] ॥

[1] णियदव्व जाणणट्ठं इयरं कहियं जिणेहिं छद्दव्वं।
तम्हा परछद्दव्वे जाणणभावो ण होइ सण्णाणं ॥

[2] छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ४ से ८

[3] समयसार नाटक, निर्जरा द्वार, छन्द ८

[4] वही, छन्द ११

जहाँ एक ओर सम्यग्ज्ञान के भरपूर गीत गाये हैं; वहीं दूसरी ओर आत्मज्ञान रहित आगमज्ञान, लौकिक ज्ञान एवं संयम की निरर्थकता भी दिल खोल कर स्पष्ट की है। यथा –

जो णवि जाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं, आगमपाढं कुणंतो वि[1] ॥

जो ज्ञान-स्वभावी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता है, वह आगम का पाठ करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता है।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं य चारित्तं।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥१००[2]॥

आत्मस्वभाव से विपरीत बहुत प्रकार के शास्त्रों का पढ़ना और बहुत प्रकार के चरित्र का पालन भी बालश्रुत व बालचरित है।

आत्मध्यान रतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्।
अशेषशास्त्रज्ञातृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः[3] ॥

आत्मध्यान में रति होना विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल है और आत्मा के प्रति प्रेम के बिना अनेक शास्त्रों का पढ़ लेना संसार है।

विहिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते[4] ॥

शरीर में आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा सम्पूर्ण शास्त्रों को जान लेने पर भी मुक्त नहीं होता और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करने वाला अन्तरात्मा सोता और उन्मत्त हुआ भी मुक्त हो जाता है।

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो[5] ॥
आतमज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्वशांति का मूल है, वीतराग विज्ञान[6] ॥

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४६४
[2] अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़) गाथा, १००
[3] योगसार, ७।४३
[4] समाधिशतक, श्लोक ९४
[5] छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ४
[6] वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका, पृष्ठ १

सम्यग्ज्ञान का मूल ज्ञेय 'पर' से विभक्त और 'निज' से अविभक्त आत्मा ही है। यही कारण है कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार में उक्त एकत्व-विभक्त आत्मा को ही निजवैभव से दिखाने की प्रतिज्ञा की है[1]। उनका वह सम्यग्ज्ञानरूपी वैभव स्याद्वाद की भाषा में अभिव्यक्त जिनागम के सेवन से, समस्त विपक्ष के निरसन में समर्थ निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से, परमगुरु वीतराग सर्वज्ञ अरहन्त एवं अपरमगुरु गणधरादि आचार्य परम्परा गुरु के उपदेश से प्रचुर संवेदन स्वरूप स्व-संवेदन से उत्पन्न हुआ है[2]। उन्होंने अपने उक्त वैभव से समझाने की बात कहकर श्रोताओं से भी उनके द्वारा इसी प्रकार से समझकर प्रमाणित करने का आग्रह किया है।

उक्त कथन के आधार पर यह स्पष्ट है कि सम्यग्ज्ञान का आधार स्याद्वाद की भाषा में कथित अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप है। यद्यपि वह आगम के माध्यम से और परम्परा गुरु के उपदेश से जाना जाता है तथापि उसमें अंधश्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उसे तर्क की कसौटी पर पूरी तरह कसकर खरा उतरने पर ही स्वीकार करने की बात शामिल है। तथा तर्क की कसौटी पर खरा उतरने के बाद भी जब तक उसका अनुभव नहीं कर लिया जाता है तब तक वह निजवैभव नहीं बन सकता है। उसे निजवैभव बनने के लिए आगम, उपदेश, तर्क और अनुभव के मार्ग से गुजरना होगा।

आगम और उपदेश की चर्चा 'शास्त्र और गुरु' के प्रकरण में हो चुकी है, अनुभव की बात भी बहुत कुछ भेद-विज्ञान और आत्मानुभूति के प्रकरणों में आ चुकी है। यहाँ अनेकान्त और स्याद्वाद को स्पष्ट करना आवश्यक है एवं प्रसंग-प्राप्त है। युक्ति का अवलम्बन अर्थात् तर्क की तुला का निर्णय करने के लिए प्रमाण और नयों की संक्षिप्त चर्चा भी अपेक्षित है, क्योंकि निर्णय न्याय से ही सम्भव है और न्याय नय-प्रमाणात्मक होता है।

---

[1] समयसार, गाथा ५

[2] वही, गाथा ५ की 'आत्मख्याति' टीका

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुण-धर्मों से युक्त है। अनन्त धर्मों वाली वस्तु को अनेकान्त और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं[1]। अनेकान्त और स्याद्वाद में द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध है।

समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र इस सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) कहता है कि अनेकान्त स्वभाव वाली होने से सब वस्तुएं अनेकान्तात्मक हैं।··· जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है — इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है[2]।"

अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है — एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच में अनेक अर्थ सम्भव हैं। तथा अन्त का अर्थ है धर्म अर्थात् गुण। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं, अतः जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा — अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो

---

[1] अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्याद्वादः।

— लघीयस्त्रय टीका (अनेकान्त और स्याद्वाद, पृष्ठ २२)

[2] स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति,················तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

— समयसार, पृष्ठ ५७१-५७२

लिया जायगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा – परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है।

स्यात्कार का प्रयोग धर्मों में होता है, गुणों में नहीं, सर्वत्र ही स्यात्कार का प्रयोग धर्मों के साथ किया है, कहीं भी अनुजीवी गुणों के साथ नहीं[1]। यद्यपि 'धर्म' शब्द का सामान्य अर्थ गुण होता है, शक्ति आदि नामों से भी उसे अभिहित किया जाता है; तथापि गुण और धर्म में कुछ अन्तर है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं। जैसे – नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता, आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं। जैसे – आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि; पुद्गल में रूप, रस, गंध आदि।

जिन गुणों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, एक वस्तु में उनकी एक साथ सत्ता तो सभी वादी-प्रतिवादी सहज स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु जिनमें विरोध सा प्रतिभासित होता है, उन्हें स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं। इतर जन उनमें से किसी एक पक्ष को ग्रहण कर पक्षपाती हो जाते हैं। अतः अनेकान्त की परिभाषा में परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रकाशन पर विशेष बल दिया गया है।

अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें, उनका निषेध न होने पावे, इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करता है[१]।"

कुछ विचारक कहते हैं कि स्याद्वाद शैली में 'भी' का प्रयोग है, 'ही' का नहीं। उन्हें 'भी' में समन्वय की सुगंध और 'ही' में हठ की दुर्गन्ध आती है, पर यह उनका बौद्धिक भ्रम ही है। स्याद्वाद शैली में जितनी आवश्यकता 'भी' के प्रयोग की है, उससे कम आवश्यकता 'ही' के प्रयोग की नहीं। 'भी' और 'ही' का समान महत्त्व है।

'भी' समन्वय की सूचक न होकर 'अनुक्त' की सत्ता की सूचक है और 'ही' आग्रह की सूचक न होकर 'दृढ़ता' की सूचक है। इनके प्रयोग का एक तरीका है और वह है – जहाँ अपेक्षा न बताकर मात्र यह कहा जाता है कि 'किसी अपेक्षा'[२] वहाँ 'भी' लगाना जरूरी है और जहाँ अपेक्षा स्पष्ट बता दी जाती है वहाँ 'ही' लगाना अनिवार्य है। जैसे – प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। यदि इसी को हम अपेक्षा लगाकर कहेंगे तो इस प्रकार कहना होगा कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य ही है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य ही।

'भी' यह बताता है कि हम जो कह रहे हैं वस्तु मात्र उतनी ही नहीं है, अन्य भी है; किन्तु 'ही' यह बताता है कि अन्य कोणों से देखने पर वस्तु और बहुत कुछ है, किन्तु जिस कोण से यह बात बताई गई है वह ठीक वैसी ही है, इसमें कोई शंका की गुंजाइश नहीं है। अतः 'ही' और 'भी' एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। 'ही' अपने विषय के बारे में सब शंकाओं का अभाव कर दृढ़ता प्रदान करती है और 'भी' अन्य पक्षों के बारे में मौन रह कर भी उनकी संभावना को नहीं [illegible]

अर्थात् यह प्रगट करती है कि मैं नहीं जानता और कुछ भी होगा। जब कि स्याद्वाद, संभावनावाद नहीं; निश्चयात्मक ज्ञान होने से, प्रमाण है। 'भी' में से यह अर्थ नहीं निकलता कि इसके अतिरिक्त क्या है, मैं नहीं जानता; बल्कि यह निकलता है कि इस समय उसे कहा नहीं जा सकता अथवा उसके कहने की आवश्यकता नहीं है। अपूर्ण को पूर्ण न समझ लिया जाय इसके लिए 'भी' का प्रयोग है। दूसरे शब्दों में जो बात अंश के बारे में कही जा रही है उसे पूर्ण के बारे में न जान लिया जाय इसके लिए 'भी' का प्रयोग है, अनेक मिथ्या एकान्तों के जोड़-तोड़ के लिए नहीं।

इसी प्रकार 'ही' का प्रयोग 'आग्रही' का प्रयोग न होकर इस बात को स्पष्ट करने के लिए है कि अंश के बारे में जो कहा गया है, वह पूर्णतः सत्य है। उस दृष्टि से वस्तु वैसी ही है, अन्य रूप नहीं।

समन्तभद्रादि आचार्यों ने पद-पद पर 'ही' का प्रयोग किया है[1]। 'ही' के प्रयोग का समर्थन श्लोकवार्तिक में इस प्रकार किया है :-

वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थ निवृत्तये।
कर्त्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित्॥

वाक्यों में 'ही' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति और दृढ़ता के लिए करना ही चाहिए, अन्यथा कहीं-कहीं वह वाक्य नहीं कहा गया सरीखा समझा जाता है[2]। युक्त्यनुशासन श्लोक ४१-४२ में आचार्य समन्तभद्र ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है।

इसी सन्दर्भ में सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्दजी लिखते हैं :-

"इसी तरह वाक्य में एवकार (ही) का प्रयोग न करने पर भी सर्वथा एकान्त को मानना पड़ेगा; क्योंकि उस स्थिति में अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है। जैसे – 'उपयोग लक्षण जीव का ही है' – इस वाक्य में एवकार (ही) होने से यह सिद्ध होता है कि उपयोग

---

[1] सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ – आप्तमीमांसा, श्लोक १५

[2] श्लोकवार्तिक, अ० १, सूत्र ६, श्लोक ५३

लक्षण अन्य किसी का न होकर जीव का ही है। अतः यदि इसमें से 'ही' को निकाल दिया जाय तो उपयोग अजीव का भी लक्षण हो सकता है[1]।'

प्रमाण वाक्य में मात्र स्यात् पद का प्रयोग होता है, किन्तु नय वाक्य में स्यात् पद के साथ-साथ एव (ही) का प्रयोग भी आवश्यक है[2]। 'ही' सम्यक् एकान्त की सूचक है और 'भी' सम्यक् अनेकान्त की।

यद्यपि जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है, तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी मानें तो यह भी तो एकान्त हो जायगा। अतः जैन दर्शन में अनेकान्त में भी अनेकान्त को स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है। कहा भी है :-

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्[3]॥

प्रमाण और नय हैं साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है; क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्तस्वरूप एवं अंशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्तरूप सिद्ध है।

जैन दर्शन के अनुसार एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का – यथा सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त, सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या एकान्त है और सापेक्ष नय सम्यक् एकान्त है तथा सापेक्ष नयों का समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक् अनेकान्त है और निरपेक्ष नयों का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या अनेकान्त है। कहा भी है :-

जं वत्थु अणेयन्तं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णएहि य, णिरवेक्खं दीसदे णेव[4]॥

[1] जैन न्याय, पृष्ठ ३००
[2] तदेव, पृष्ठ ३१६
[3] स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक १०३ [illegible]
[4] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१

यदि अंश देखकर अंश का ही कथन करे तो गलत नहीं होगा। जैसे – यदि यह कहा जाय कि हाथी का पैर खम्भे के समान है, कान सूप के समान हैं, पेट दीवाल के समान है तो कोई असत्य नहीं, क्योंकि यह कथन सापेक्ष है और सापेक्ष नय सत्य होते हैं; अकेला पैर हाथी नहीं है, अकेला पेट भी हाथी नहीं है, इसी प्रकार कोई भी अकेला अंग अंगी को व्यक्त नहीं कर सकता है।

'स्यात्' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ जो कथन किया जा रहा है, वह अंश के सम्बन्ध में है, पूर्ण वस्तु के सम्बन्ध में नहीं। हाथी और हाथी के अंगों के कथन में 'ही' और 'भी' का प्रयोग इस प्रकार होगा :–

हाथी किसी अपेक्षा दीवाल के समान भी है, किसी अपेक्षा खम्भे के समान भी है, और किसी अपेक्षा सूप के समान भी है। यहाँ अपेक्षा बताई नहीं गई है, मात्र इतना कहा गया है कि 'किसी अपेक्षा', अतः 'भी' लगाना आवश्यक हो गया। यदि हम अपेक्षा बताते जावें तो 'ही' लगाना अनिवार्य हो जायगा, अन्यथा भाव स्पष्ट न होगा, कथन में दृढ़ता नहीं आवेगी, जैसे – हाथी का पैर खम्भे के समान ही है, कान सूप के समान ही हैं और पेट दीवाल के समान ही है।

उक्त कथन अंश के बारे में पूर्ण सत्य है, अतः 'ही' लगाना आवश्यक है तथा पूर्ण के बारे में आंशिक सत्य है, अतः 'भी' लगाना जरूरी है।

जहाँ 'स्यात्' पद का प्रयोग न भी हो तो भी [illegible] यह समझना चाहिये कि वह अनुक्त (साइलेन्ट) है। [illegible] में इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है :–

"स्यात् शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रखने वाला [illegible] स्यात् शब्द का प्रयोग न भी करे तो भी उसके अर्थ [illegible] है। अतएव स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं करने पर भी कोई दोष नहीं है। कहा भी है – स्यात् शब्द के प्रयोग की प्रतिज्ञा का अभिप्राय रखने से 'स्यात्' शब्द का अप्रयोग देखा जाता है"[1]।

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ ५०१

द्रव्य में एक साथ पाई जाती है। अनेकान्त परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का प्रकाशन करता है।

जिनेन्द्र भगवान का स्याद्वाद रूपी नयचक्र अत्यन्त पैनी धार वाला है। इसे अत्यन्त सावधानी से चलाना चाहिए, अन्यथा धारण करने वाले का ही मस्तक भंग हो सकता है[1]। इसे चलाने के पूर्व नयचक्र चलाने में चतुर गुरुओं की शरण लेना चाहिये[2]। उनके मार्गदर्शन में जिनवाणी का मर्म समझना चाहिए।

अनेकान्त और स्याद्वाद सिद्धान्त इतना गूढ़ व गम्भीर है कि इसे गहराई से और सूक्ष्मता से समझे बिना इसकी तह तक पहुँचना असम्भव है, क्योंकि ऊपर-ऊपर से देखने पर यह एकदम गलत सा प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के दर्शन-शास्त्र के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक श्री फणिभूषण अधिकारी ने लिखा है :–

"जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धांत को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं, उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान विद्वान के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन-शास्त्र के मूलग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की[3]।"

हिंदी के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं :–

"प्राचीन दर्जे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है[4]।"

---

[1] अत्यन्तनिशितधारं, दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
[illegible] धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्॥
— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९

[2] गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः। — वही, श्लोक ५८

[3] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ८२

[4] वही।

श्री महामहोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य पं० स्वामी राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, वाराणसी लिखते हैं :—

"मैं कहाँ तक कहूं, बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रंथों में जो जैनमत का खंडन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन-देख हंसी आती है, स्याद्वाद यह जैन धर्म का अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामयी गोले नहीं प्रवेश कर सकते ।

जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है[1] ।"

संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् डॉ० गंगानाथ झा के विचार भी द्रष्टव्य हैं :—

"जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खंडन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और जो कुछ अब तक जैन धर्म को जान सका हूँ उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैन धर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती[2] ।"

'स्यात्' पद का ठीक-ठीक अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसके सम्बन्ध में बहुत भ्रम प्रचलित हैं – कोई स्यात् का अर्थ संशय करते हैं, कोई शायद, तो कोई सम्भावना । इस तरह से स्याद्वाद को शायदवाद, संशयवाद, या सम्भावनावाद बना देते हैं । 'स्यात्' शब्द तिङन्त न होकर 'निपात' है । वह संदेह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है । 'स्यात्' शब्द को स्पष्ट करते हुए तार्किकचूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं :—

वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यं प्रति विशेषणं ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तवकेवलिनामपि[3] ॥१०३॥

---

[1] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९२
[2] वही, पृष्ठ ९४
[3] आप्तमीमांसा, श्लोक १०३

'स्यात्' शब्द निपात है। वाक्यों में प्रमुक्त यह शब्द अनेकान्त का द्योतक वस्तुस्वरूप का विशेषण है।

शायद, संशय और सम्भावना में एक अनिश्चय है; अनिश्चय अज्ञान का सूचक है। स्याद्वाद में कहीं भी अज्ञान की झलक नहीं है। वह जो कुछ कहता है, दृढ़ता के साथ कहता है; वह कल्पना नहीं करता, सम्भावनाएँ व्यक्त नहीं करता।

श्री प्रो० आनन्द शंकर बाबू भाई ध्रुव लिखते हैं :-

"महावीर के सिद्धान्त में बताए गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैन धर्म) पर आक्षेप करना यह अनुचित है[1]।"

आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को केवलज्ञान के समान [illegible] प्रकाशक माना है। भेद मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का है[2]।

अनेकान्त और स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तु स्वरूप के [illegible] का दिग्दर्शन करने वाला होने से आत्म-शान्ति के साथ-साथ [illegible] शान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है। इस संबंध में सुप्रसिद्ध [illegible] विद्वान एवं राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं:-

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत [illegible] अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे [illegible] शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही [illegible]

---

[1] [illegible], पृष्ठ ६८

[2] स्याद्वादकेवलज्ञाने [illegible] सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च [illegible]॥
— [illegible]

[3] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ [illegible]

बाद में कहा जाय, इसका कोई नियम नहीं है। ज्ञानी वक्ता अपने अभिप्रायानुसार जब एक धर्म का कथन करता है उस समय अन्य धर्म कथन में गौण रहते हैं; निषिद्ध नहीं। अतः ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं[1]। तिलोयपण्णत्ति में कहा है :–

"णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो ॥

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहा जाता है[2]। कहीं-कहीं वक्ता के अभिप्राय को नय कहा गया है[3]।

नय तीन प्रकार के कहे गये हैं – ज्ञान नय, शब्द नय और अर्थ नय[4]। ज्ञान नय की मुख्यता से ज्ञाता के अभिप्राय को और शब्द नय की मुख्यता से वक्ता के अभिप्राय को नय कहा है।

नय अनन्त हो सकते हैं। जितने वचन-विकल्प हैं, उतने ही नय भी सम्भव हैं[5]। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ अनन्त हैं, अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनन्त विकल्प रूप हो जाते हैं[6]। मुख्य, गौण विवक्षा के कारण वक्ता के अभिप्राय भी अनेक प्रकार के होते हैं, इस कारण भी नय अनेक प्रकार के होते हैं।

नयचक्र भी उतना ही जटिल है जितनी कि उसकी विषयवस्तु अनन्तधर्मात्मक वस्तु। विस्तार तो बहुत है, किन्तु आलापपद्धति व बृहन्नयचक्र में मूल नयों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है :–

णिच्छयववहारणया मूलिम भेयाणयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह[7] ॥

---

[1] ज्ञातुरभिप्रायो नयः – आलापपद्धति, श्लोक ९ की टीका।

[2] तिलोयपण्णत्ति, अ० १, गाथा ८३

[3] स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक २८ की टीका, पृष्ठ ३०२

[4] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६५

[5] जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
[illegible]

[6] [illegible]

[7] [illegible]

"जो नयदृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तु के स्वरूप का बोध नहीं हो सकता और वस्तु के स्वरूप को जाने बिना सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है[1] ?

प्रमाण की विषयभूत वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है[2]। उसके सामान्यांश को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और विशेषांश को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नय है। इनकी परिभाषा नयचक्र में इस प्रकार दी गई है :-

पज्जय गउणं किच्चा दव्वंपि य जो हु गिण्हइ लोए।
सो दव्वत्थिय भणिओ विवरीओ पज्जयत्थिणओ[3] ॥

जो पर्याय को गौण करके द्रव्य को ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

जो अभेद व अनुपचार से वस्तु का निश्चय करता है वह निश्चय नय है और भेद तथा उपचार से वस्तु का व्यवहार करता है वह व्यवहार नय है[4]। निश्चय और व्यवहार नय की और भी अनेक परिभाषाएं प्राप्त होती हैं। स्वाश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार[5], अभेद को निश्चय और भेद को व्यवहार[6], भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार[7], मुख्य को निश्चय और गौण को व्यवहार[8] कहते हैं।

अनेक शास्त्रों का आधार लेकर पंडितप्रवर टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहार का सांगोपांग विवेचन किया है[1], जिसका सार इस प्रकार है :-

(१) सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं[2]।

(२) एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चय नय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप कहना व्यवहार नय है। जैसे – मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चय नय का कथन है और घी का संयोग देखकर घी का घड़ा कहना व्यवहार नय का कथन है[3]।

(३) जिस द्रव्य की जो परिणति हो उसे उस ही की कहना निश्चय नय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहने वाला व्यवहार नय है[4]।

(४) व्यवहार नय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है तथा निश्चय नय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है[5]।

अतः निश्चय नय सत्यार्थ है और व्यवहार नय असत्यार्थ है।

जीव व देह एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं, यह कथन निश्चय नय का है[1]। यहाँ जीव और शरीर के संयोग को देखकर उन्हें एक कहा गया है, अतः यह कथन व्यवहार नय का हुआ तथा जीव और शरीर एक क्षेत्र में रहने पर भी वस्तुतः भिन्न-भिन्न ही हैं, अतः निश्चय नय उन्हें भिन्न ही कहता है।

व्यवहार नय निषेध्य है और निश्चय नय निषेधक[2]। इस विषय को पंचाध्यायी में इस प्रकार स्पष्ट किया है :-

"व्यवहार नय स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है, अतः मिथ्या है और इसी से वह प्रतिषेध्य है। इसीलिए व्यवहार नय पर दृष्टि रखने वाला मिथ्यादृष्टि माना गया है। तथा निश्चय नय स्वयं भूतार्थ होने से समीचीन है और इसका विषय निर्विकल्पक या वचन अगोचर के समान अनुभवगम्य है, अथवा जो निश्चयदृष्टि वाला है वही सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है। अतः निश्चय नय उपादेय है किन्तु उसके सिवाय अन्य नयवाद उपादेय नहीं हैं[3]।"

मुनिवरों को ही निर्वाण प्राप्त होना बताया है[1]। व्यवहार नय का कथन अज्ञानी जीवों को परमार्थ समझाने के लिए किया गया है[2]।

जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के विना समझाना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के विना निश्चय का उपदेश सम्भव नहीं है, अतः जिनवाणी में व्यवहार का कथन आया है। म्लेच्छ को समझाने के लिए भले ही म्लेच्छ भाषा का आश्रय लेना पड़े पर म्लेच्छ हो जाना तो ठीक नहीं, उसी प्रकार निश्चय का प्रतिपादक होने से भले ही व्यवहार से कथन हो, पर उसका अनुकरण करना तो ठीक नहीं[3]।

व्यवहार नय असत्यार्थ और हेय है फिर भी उसे जैन शास्त्रों में स्थान प्राप्त है, क्योंकि व्यवहार स्वयं सत्य नहीं है फिर भी सत्य की प्रतीति और अनुभूति में निमित्त है।

प्रारंभिक भूमिका में परमार्थ को समझने के लिये व्यवहार की उपयोगिता है क्योंकि वह निश्चय का प्रतिपादक है। जैसे – हिमालय पर्वत से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरनेवाली सैंकड़ों मील लम्बी गंगा नदी की लम्बाई तो क्या चौड़ाई को भी आँखों से नहीं देखा जा सकता है। अतः उसकी लम्बाई-चौड़ाई और बहाव के मोड़ों को जानने के लिए हमें नक्शे का सहारा लेना पड़ता है। पर जो गंगा नक्शे में है वह वास्तविक नहीं है, उससे तो मात्र गंगा को समझा जा सकता है, उससे कोई पथिक प्यास नहीं बुझा सकता है, प्यास बुझाने के लिए असली गंगा के किनारे ही जाना होगा। उसी प्रकार व्यवहार द्वारा कथित वचन नक्शे की गंगा के समान हैं। उनसे समझा जा सकता है, पर उनके आश्रय से आत्मानुभूति प्राप्त नहीं की

---

[1] णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।

— समयसार, गाथा २७२

[2] अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥

— पुरुषार्थसिद्‌ध्युपाय, श्लोक ६

[3] समयसार गाथा ८ की 'आत्मख्याति' टीका

ना सकती है। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए निश्चय नय के विषयभूत त्रिकाल शुद्धात्मा का ही आश्रय लेना आवश्यक है। अतः व्यवहार नय तो मात्र जानने (समझने) के लिए प्रयोजनवान है।

व्यवहार नय मात्र दूसरों को ही समझाने के लिए उपयोगी नहीं, वरन् जब तक स्वयं निश्चय नय द्वारा वर्णित वस्तु को न पहिचाने तब तक व्यवहार द्वारा वस्तु को स्वयं समझना भी उपयोगी है। व्यवहार को उपचार मात्र मान कर उसके द्वारा मूलभूत वस्तु का निर्णय करना उपयोगी है। व्यवहार को निश्चय के समान सत्य समझ लेना उपयुक्त नहीं है[1]।

उक्त नयवाद शुद्धात्म-तत्त्व की खोज या प्रतिपादन के काल में ही चलता है, अनुभूति के काल में नहीं। कहा भी है :–

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा[2]॥

तत्त्वान्वेषण काल में ही आत्मा युक्तिमार्ग से अर्थात् निश्चय-व्यवहार नयों द्वारा जाना जाता है, परन्तु आत्मा की आराधना के समय वे विकल्प नहीं होते; क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।

समझना है, अतः जब तक उन्हें आत्म-स्वरूप पर घटित करके आत्मा का स्वरूप नहीं समझा जाता तब तक उनकी कोई उपयोगिता नहीं।

यदि नाव पर ही तत्त्वों को समझ लेना पर्याप्त हो तो फिर जगत में कौन तत्त्वज्ञ नहीं है; क्योंकि यह तो सब भली प्रकार जानते हैं कि नाव में पानी भरने से नाव डूब जायगी, छेद हो जाने पर सबसे पहले छेद बंद करना जरूरी है, बाद में पानी निकालना। यदि आप नाव पर सात तत्त्व समझ कर रह जावोगे तो नाव का मोक्ष होगा, आपका नहीं। अतः यदि अपना मोक्ष करना है तो उन्हें आत्मा पर घटित करना चाहिए।

इसी प्रकार अनेकान्त और स्याद्वाद की महिमा मामा-भानजा का संबंध जानने में नहीं है; क्योंकि जब सभी आगोपालादि इन सम्बन्धों से भली-भांति परिचित हैं, तो क्या वे स्याद्वादी हैं ? स्याद्वाद से भी अनेकान्तात्मक-आत्मस्वरूप को ही समझना है।

इसी प्रकार घी के घड़े और मिट्टी के घड़े के विवेक मात्र से कोई निश्चय-व्यवहारज्ञ नहीं हो जायगा। इनके सम्बन्ध में भी कौन भ्रम में है ? सभी अच्छी तरह जानते हैं कि घड़ा तो मिट्टी का ही है, घी का तो कहा जाता है।

इनके माध्यम से भी आत्म-स्वरूप को ही समझ कर आत्म-सन्मुख होना है, क्योंकि समस्त जिनागम की रचना का एकमात्र उद्देश्य आत्म-स्वरूप का प्रतिपादन करना है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकमात्र आत्मा का जानना-अनुभवना आवश्यक है, बाकी तो सब ज्ञान का सहज ज्ञेय बन जाते हैं।

अतः आत्मार्थी को चाहिए कि सर्वप्रथम इन सबका स्वरूप समझ कर इनके द्वारा आत्म-तत्त्व का विकल्प में निर्णय करे। तत्पश्चात् उस आत्म-तत्त्व ही में समा जावे, यही इनके जानने का सार है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की सार्थकता आत्म-स्वरूप में समा जाने में है। आत्म-स्वरूप में समा जाना ही सम्यक्चारित्र है।

को कहा गया है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र भी कार्यकारी नहीं होता; बल्कि जिस प्रकार अंधे पुरुष का ना उसके पतन का कारण होता है उसी प्रकार अज्ञानपूर्वक किया चारित्र उसके पतन का कारण होता है[1] । इसीलिए तो कहा है :-

सम्यक्ज्ञानी होय, बहुरि दृढ़ चारित लीजे[2] ।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च[3] ।।

सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व की उपासना करना हिए, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं ।

सम्मत्तं विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण[4] ।

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियमपूर्वक होते हैं ।

अतः अज्ञानान्धकार के समाप्त हो जाने पर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान त साधु पुरुष राग-द्वेष (कषायभाव) रूप हिंसादि की निवृत्ति लिए चारित्र धारण करते हैं; क्योंकि राग-द्वेषरूप भावहिंसादि निवृत्ति हो जाने पर द्रव्यहिंसा की निवृत्ति सहज हो ही जाती है । —अर्थ की अपेक्षा से रहित पुरुष राजादिक की सेवा नहीं करता, ही विरक्त पुरुष पापों में प्रवृत्त नहीं होता[5] ।

पापों की प्रणालियां पांच हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील परिग्रह । इनसे विरक्ति का नाम भी चारित्र है[6] । उक्त पांच

ारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतम् ।
नातायैव तद्धि स्यात् अन्धस्येव विवल्गितम् ।।
— महापुराण, सर्ग २४, श्लोक १२२

हढाला, चौथी ढाल, छन्द १०
ुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१
यणसार, गाथा ४७
त्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४८
ंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
ापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ।।
— रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४९

झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में हिंसा की परिभाषा घटित होती है; क्योंकि प्रमाद (कषाय) के योग के बिना असत्य वचन, चोरी आदि कार्य सम्भव नहीं हैं और इनसे प्राणों का पीड़न भी होता ही है।

अंतरंग और बहिरंग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का होता है। अंतरंग परिग्रह चौदह और बहिरंग दश प्रकार का माना गया है। इस प्रकार कुल परिग्रह चौबीस प्रकार का है।

अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं – मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नौ नोकषाय। इस प्रकार अंतरंग परिग्रह कषाय अर्थात् मोह-राग-द्वेषरूप होने से हिंसारूप ही हुआ क्योंकि राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति का नाम ही हिंसा है, यह सिद्ध किया जा चुका है।

धन-धान्यादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का संग्रह भी रागादि बिना सम्भव नहीं, तथा प्राणियों के प्राणों के पीड़न के बिना भी असम्भव होने से हिंसा ही है।

अतः जिसमें सब पाप प्रणालियाँ गर्भित हैं, ऐसी हिंसा ही सबसे बड़ा अधर्म है और जिसमें सर्व धर्म गर्भित हैं; ऐसी अहिंसा ही परम धर्म है। यही कारण है कि जैनाचार के मूल में सर्वत्र अहिंसा विद्यमान है। जिसमें हिंसा न हो या अशक्यानुष्ठान होने से भूमिका-नुसार कम से कम हिंसा हो के आधार पर जैनाचरण निश्चित हुआ है।

रात्रिभोजन का त्याग, पानी छानकर काम में लेना, मद्य, मांस, मधु एवं पंचोदम्बर फलों के सेवन का निषेध, अभक्ष्य भक्षण का परिहार, यहाँ तक कि गुप्ति, समिति आदि सब में अहिंसा तिल में तेल की तरह व्याप्त है।

इन सब का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु इतना समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि हिंसा और अहिंसा के अंतरंग और बहिरंग दोनों पक्षों को समझकर, प्रत्येक आचार के अंग पर दोनों को घटित करना आवश्यक है।

प्रत्येक ज्ञानी आत्मा समस्त द्रव्य-भाव हिंसा को सर्वथा हेय ही मानता है, भले ही वह अपनी कमजोरी के कारण उसे पूर्णतः त्याग

[illegible] मानते थे। [illegible] मानने की समानता हुई। जैसे — मैं जीवों को मारता हूँ, मैं परिग्रहधारी हूँ इत्यादिरूप मानता था, उसी प्रकार मैं जीवों की रक्षा करता हूँ, मैं नग्न, परिग्रहरहित हूँ — ऐसी मानता हुआ। सो पर्यायाश्रित कार्यों में अहंबुद्धि सो ही मिथ्याबुद्धि है। यही समयसार कलश में कहा है :-

> ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः ।
> सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम् ॥१९९॥

अर्थ : जो जीव मिथ्या अंधकार व्याप्त होते हुए अपने को पर्यायाश्रित क्रिया का कर्ता मानते हैं वे जीव मोक्षाभिलाषी होने पर भी जैसे अन्यमती सामान्य मनुष्यों को मोक्ष नहीं होता, उसी प्रकार उनको मोक्ष नहीं होता; क्योंकि कर्तापने के श्रद्धान की समानता है। तथा इस प्रकार आप कर्ता होकर श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म की क्रियाओं में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति निरन्तर रखता है, जैसे उन क्रियाओं में भंग न हो वैसे प्रवर्तता है, परन्तु ऐसे भाव तो सराग हैं, चारित्र है वह वीतराग भावरूप है, इसलिए ऐसे साधन को मोक्षमार्ग मानना मिथ्याबुद्धि है।

प्रश्न :- सराग-वीतराग भेद से दो प्रकार का चारित्र कहा है सो किस प्रकार है ?

उत्तर :- जैसे चावल दो प्रकार के हैं — एक तुष सहित हैं और एक तुष रहित हैं। वहाँ ऐसा जानना कि — तुष है वह चावल का स्वरूप नहीं है, चावल में दोष है। कोई समझदार तुष सहित चावल का संग्रह करता था, उसे देखकर कोई भोला तुषों को ही चावल मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा। वैसे ही चारित्र दो प्रकार का है — एक सराग है, एक वीतराग है। वहाँ ऐसा जानना कि — जो राग है वह चारित्र का स्वरूप नहीं है, चारित्र में दोष है। तथा कितने ही ज्ञानी प्रशस्त-राग सहित चारित्र धारण करते हैं, उन्हें देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त-राग को ही चारित्र मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा[1]।"

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २४४-२४५

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात् ॥७६१॥
नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरञ्जसा ।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥७६२॥
कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं य यत् ।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैप चारित्र संज्ञकः[1] ॥७६३॥

यद्यपि रूढ़ि से शुभोपयोग भी चारित्र के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु वह अपनी अर्थक्रिया को करने में असमर्थ है इसलिए वह निश्चय से सार्थक नाम वाला नहीं है।

किन्तु वह अशुभोपयोग के समान वास्तव में वंध का कारण है, अतः वह श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ वह है जो न तो अपकार करता है और न उपकार करता है।

शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है, यह बात विचार करने पर असिद्ध भी प्रतीत नहीं होती; क्योंकि शुभोपयोग एकान्त से वंध का कारण होने से वह शुद्धोपयोग के अभाव में ही पाया जाता है।

बुद्धि दोष से ऐसी तर्कणा भी नहीं करना चाहिए कि शुभोपयोग एकदेश निर्जरा का कारण है, क्योंकि न तो शुभोपयोग ही वंध के अभाव का कारण है और न अशुभोपयोग ही।

कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है, और वही चारित्र है।

अणुव्रत और महाव्रत शुभ भावरूप हैं, अतः इन्हें व्यवहार से चारित्र कहा जाता है। वास्तविक चारित्र तो वीतराग भावरूप ही होता है। इस संदर्भ में पंडित टोडरमलजी ने लिखा है :—

"तथा हिंसादि सावद्य योग के त्याग को चारित्र मानता है, वहां महाव्रतादिरूप शुभयोग को उपादेयपने से ग्राह्य मानता है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-

---

[1] पंचाध्यायी, श्लोक ७५८-७६३

हिंसादि पांच अव्रतों से पाप का और अहिंसादि पाँच व्रतों से
य का बन्ध होता है। पुण्य और पाप दोनों कर्मों का विनाश मोक्ष है,
तः मोक्षार्थी को चाहिए कि वह अव्रतों के समान व्रतों को भी छोड़ दे।

व्रतों को अव्रतों की भांति छोड़ने के उपदेश में ध्यान देने योग्य
त यह है कि अव्रत और व्रत दोनों ही छोड़ने योग्य हैं और समान
प से छोड़ने योग्य हैं। यहाँ दोनों ओर सीमा निश्चित की गई है।
थम यह है कि कोई यह न माने कि अव्रत कुछ अधिक हेय हैं और
त कुछ कम। हेयपने की दृष्टि से दोनों समान हैं। दूसरी यह कि
त छोड़कर अव्रत में नहीं जाना है, अपितु व्रत-अव्रत से परे जो
ीतराग भाव हैं, उसमें जाना है; क्योंकि उपदेश तो ऊपर चढ़ने
 लिए दिया जाता है, नीचे गिरने के लिए नहीं। व्रतों को छोड़कर
अव्रतों में जायेंगे तो और भी बुरा होगा।

अतः जिन्हें संसार दुःखों से मुक्ति चाहिए व जिन्हें अपना सर्व
प्रकार उदय करना अर्थात् पूर्ण सुखी होना हो; उन्हें जैसे भी बने,
मर-पचकर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके वीतराग चारित्र धारण
करना चाहिए। संसार दुःखों से छूटने का एकमात्र यही उपाय है,
इसमें ही सबका उदय है; अतः यही सर्वोदय तीर्थ है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप मोक्ष-
मार्ग के सार को आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी के निम्नलिखित
शब्दों में समेटते हुए विराम लेते हैं :–

"इसलिए बहुत क्या कहें, जिस प्रकार से रागादि मिटाने का
श्रद्धान हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार रागादि मिटाने
का जानना हो वही सम्यग्ज्ञान है। तथा जिस प्रकार रागादि मिटें वही
आचरण सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है[1]।"

उक्त मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने से ही सबका उदय अर्थात् सर्वोदय
संभव है।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २१३